RAVINDRANATH KA BAL SAHITYA : Hindi translation by Yugajit Nawalpuri of a selection of Rabindranath Tagore's writings for children, compiled & edited by Lila Majumdar and Kshitis Roy Introduction carries a biographical sketch of Tagore by Lila Majumdar, Sahitya Akademi, New Delhi (third edition : 1981), Price Rs 20.00

प्रथम संस्करण : १९७१
द्वितीय संस्करण : १९८१
तृतीय संस्करण : १९८१

विश्व-भारती के सौजन्य से प्रकाशित

मुद्रक :
जे० के० ऑफसेट प्रिन्टर्स,
दिल्ली-११०००६

मूल्य : बीस रुपये

क्रम

कवि-कथा

उत्तरी कलकत्ता में एक पुरानी सड़क है। उस पर बड़ी भीड़-भाड़ रहती है। ट्रामों, बसों, मोटरगाड़ियों, भैंसागाड़ियों, हाथ-ठेलों आदि का तांता बँधा रहता है। लोग इतने कि गिनती नही हो सकती। दोनों ओर मकान हैं, जो आपस में सटे हुए है। तिल-भर खुली जगह नही। इसी सड़क से एक छोटी-सी गली निकली है। गली में पैदल चलने वालों के लिए पटरियाँ तक नहीं हैं। कुछ घरों के बाद छोटा-सा पुराना शिवाला आता है। उसके बाद दो-तीन घर और हैं। फिर एक बहुत बड़े फाटक पर पहुँचकर गली खतम हो जाती है।

फाटक के भीतर विशाल तिमंजिला महल है। उसकी झिलमिलीदार खिड़कियाँ और लम्बे-लम्बे झरोखे फाटक से ही दिखाई पड़ने लगते हैं। आज से नब्बे-बानवे साल पहले की बात है। इस महल में एक गोरा छरहरा बालक रहता था। बरसात के दिनों में वह यहीं कहीं गली की ओर टकटकी बाँधे खड़ा दिखाई देता, इस आशा में कि शायद ऐसी बरसात में मास्टर साहब नागा कर दें। पर मास्टर साहब कभी न चूकते। ठीक समय पर गली के मोड़ पर उनकी छतरी दिखाई पड़ जाती।

बालक का नाम था रवीद्रनाथ ठाकुर। घर पर लोग उसे रवि कहते थे। गली का नाम है द्वारकानाथ ठाकुर की गली और सड़क का नाम चितपुर रोड।

महल जोड़ासाँको के ठाकुर-परिवार का मौरूसी मकान है।

पर उस बालक ने अपने इस महल के सभी खण्ड देखे तक न थे, हालाँकि वह सदा यहीं रहता था। उसकी पहुँच महल के कुछ

ही भागों तक थी—इधर किसी आँगन तक, तो उधर किसी कोठरी तक। महल की सँकरी चक्करदार सीढ़ियां ऊपर न जाने किस अनजानी दुनिया को जाती थी। शायद ऊपर कोई सजा-सजाया बड़ा जगमगाता हुआ दालान हो। रात में वहाँ बडी देर तक कहीं गाने-बजाने का रंग जमा रहता, कही नाटकों के अभ्यास चलते, तो कही विशिष्ट अतिथियो का जमाव होता।

इसी हलचल के बीच वह बालक बड़ा हुआ। भाई-बहनों में तेरह उससे बड़े थे। एक छोटा भाई भी हुआ था, पर वह साल-भर बाद ही दुनिया से चला गया।

ठाकुर-परिवार के लोग समाज के अगुआ थे। जाति के ब्राह्मण और शिक्षा-संस्कृति में काफी आगे बढ़े हुए। पर कट्टरपंथी लोग उन्हें 'पिराली' कहकर नाक-भौं सिकोड़ते थे। पिराली ब्राह्मण मुसलमानों के साथ उठने-बैठने के कारण जाति-भ्रष्ट माने जाते थे। रवीन्द्रनाथ के दादा द्वारकानाथ ठाकुर 'प्रिंस' यानी राजा कहलाते थे। उनके वैभव की धाक देश में ही नहीं विलायत में भी थी। रवान्द्रनाथ के पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर और भी प्रसिद्ध हुए। सन्तों-जैसे आचार-विचार के कारण वह 'महर्षि' कहलाते थे।

एक समय इस परिवार में धन भी अपार था। बहुत बड़ी जमीदारी थी। जोड़ासाँको वाला महल द्वारकानाथ के दादा ने बनवाया था। हालत गिर जाने पर भी उनके पास जो दौलत बची रह गई थी वह कोई कम न थी। फिर भी कवि का बचपन, परिवार के और बच्चों की ही तरह, बड़ी सादगी में बीता। जाड़ों में भी वह सूती कपड़े ही पहनते। जते-मौजे भी काफी बड़े हो जाने पर ही पहने। खान-पान में विलास का नाम तक न था।

पर इस सादगी के चारों ओर भरपूर विलास का वातावरण छाया हुआ था। विलास की उस दुनिया में बड़े तो बे-रोक-टोक विचरा करते, पर छोटों के लिए ताक-झांक तक की मनाही थी। किसी गीत की एकाध कड़ी या नाटक का एकाध वाक्य इन बच्चों

के कानों में आ पड़ता तो ये कौतूहल और आनन्द के मारे बेसुध हो उठते। संयम सिखलाने का यह बड़ा अच्छा ढंग था।

शैशवावस्था को पार करते ही रवि हवेली से बाहर कर दिये गए। उन्हें महिलाओं की देख-भाल से छुट्टी दिलाकर नौकरों के हवाले कर दिया गया। उन दिनों धनी घरों की यही रीति थी। रवि को खिलाने-पिलाने तक का भार नौकरों पर ही था। रात को सिर्फ सोने के लिए वह माँ के पास जा पाते। सोते समय एक बूढ़ी दादी उन्हें परियों की कहानियाँ सुनाया करती। नौकरों के हाथों उन्हें बहुत कष्ट मिलता था। बचपन के संस्मरणों में उन्होंने इस जमाने को 'सेवकशाही तन्त्र' के रूप में याद किया है।

संगी दो थे—एक भाई, एक भानजा। दोनों उम्र में बड़े थे। उनके स्कूल में भर्ती होने के समय रवि ने भी स्कूल जाने की हठ ठानी। इस पर मास्टर साहब ने एक तमाचा जड़ दिया। बोले "आज तू स्कूल जाने के लिए जितना रो-धो रहा है, कल स्कूल छोड़ने के लिए तू इससे भी अधिक सिर धुनेगा!" हुआ भी यही।

स्कूल उन्हें जेल के समान लगता था। श्री-हीन बन्द कमरे की कटी-बँधी पढ़ाई सहन नहीं होती थी। हमेशा निकल भागने की धुन सवार रहती। तीन स्कूल आजमा लेने के बाद उन्होंने स्कूली पढ़ाई को तिलांजलि दे दी। घर वाले बहुत खीझे। कहा: "यह लड़का दुनिया में कुछ नहीं कर पायगा।"

रवि को स्कूल नहीं भाते थे, पर पढ़ाई-लिखाई में जी खूब लगता था। दिन-भर पढ़ना-लिखना चलता रहता। सुबह घण्टे-भर अखाड़े में जोर करने के बाद बँगला, संस्कृत, इतिहास, भगोल, विज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान, संगीत, चित्र-कला आदि की पढ़ाई होती। पीछे अंग्रेजी साहित्य भी इस सूची में आ गया। कुशाग्र बुद्धि तो वह थे ही। जो भी सिखाया जाता, चट से सीख लेते और भूलकर भी न भूलते। हाँ, स्कूल के कमरे में बन्द रहकर जबरदस्ती की पढ़ाई उन्हें बिलकुल नापसन्द थी। तिस पर स्कूल में समय भी काफी नष्ट

होता था।

जब वह साढ़े ग्यारह साल के हुए तो उनका जनेऊ हुआ। न चाहते हुए भी उन्हें घुटे हुए सिर पर टोपी पहननी पड़ी। इसी वेश में वह पिताजी के साथ खुशी-खुशी हिमालय गए। पहले वह पश्चिम बंगाल के बोलपुर नामक स्थान में पहुँचे। महर्षि ने मनन-चिन्तन के लिए बोलपुर के पास ही एक आश्रम बनाया था, जिसका नाम था 'शान्तिनिकेतन'। उस यात्रा में पिताजी ने रवि को संस्कृत, अंग्रेज़ी और गणित-ज्योतिष सिखाने के साथ-साथ जवाबदेही सँभालना भी सिखाया। उसी यात्रा में रवीन्द्रनाथ ने राजा पृथ्वीराज की ऐतिहासिक पराजय के बारे में एक पद्य-नाटक लिखा। इससे पता चलता है कि नवोदित कवि ने कितनी शीघ्र देश के भाग्य की चिन्ता करनी शुरू कर दी थी।

कुछ महीने बाद जब रवीन्द्रनाथ हिमालय से लौटे तो मानो बिलकुल बदल गए थे। अब वह बालक नहीं लगते थे। लेकिन स्कूल जाने में उन्हें अब भी उतनी ही आपत्ति थी।

अगले साल उनकी माँ चल बसी। लेकिन माँ का बिछोह होने पर भी उन्हें प्यार का अभाव नहीं खल पाया। पिता थे, एक-से-एक सनेही बड़े भाई थे, भाभियाँ थीं, जीजियाँ थीं। रवि को सब पहले से भी ज्यादा प्यार करने लगे। रवि की प्रतिभा लगातार विकसित होती गई, पंखुड़ी-पंखुड़ी खुलते फूल की तरह।

पन्द्रह साल की उम्र में उन्होंने पहले-पहल जनता के सामने कविता-पाठ किया। अवसर था 'हिन्दू मेले' का। इस राष्ट्रीय मेले का संगठन उनके बड़े भाइयों की मित्र-मण्डली ने किया था। कविता उनकी अपनी ही रची हुई और राष्ट्रीय भावों से भरी थी। सुनने वाले मुग्ध हो उठे। उसके बाद उन्होंने 'वनफूल' नाम की एक लम्बी कविता लिखी, जो पद्यबद्ध कहानी थी। साथ ही 'वैष्णव पदावली' के अनुकरण पर उन्होने बड़े ही अच्छे पद लिखे। उनका संग्रह 'भानुसिंहेर पदावली' नाम से छपा। बहुत-से लोगों की यह धारणा

हो गई कि 'व्रजबुलि' में लिखे गए ये पद सैकड़ों वर्ष पहले के किसी अन्य कवि के हैं। पर वास्तव में भानुसिंह तो रवीन्द्रनाथ ही थे। यह बात प्रकट हो जाने पर भी लोग आश्चर्य करते रहते थे कि सोलह-सत्रह साल के बालक ने इतने सुन्दर पद कैसे रचे होंगे।

रवीन्द्रनाथ कुशल अभिनेता भी थे। उन्होंने अपने भाइयों और मित्रों के लिखे हुए और शौकिया ढंग से खेले हुए नाटकों में भी काम किया। रंगमंच पर वे कई बरस बाद उतरे।

मन तो उनका संगीत में सराबोर था ही, गला उनका बड़ा मधुर था। बचपन से ही वे गीत लिखते, उनकी धुनें बाँधते, और अत्यन्त ललित कण्ठ से गाया करते।

गीतों की रचना वे जीवन-भर करते रहे। अनगिनती गीत लिखे हैं उन्होंने। भक्ति के गीत, प्रकृति की वन्दना, देश-प्रेम के गाने, अनेकानेक अवसरों के गीत। आज भी उनके गीत बेजोड़ हैं। ऐसे और इतने गीत कभी किसी और ने नहीं लिखे।

छुटपन में ही उन्होने यह विख्यात ब्रह्म-संगीत लिखा था :

'नयन तोमारे, पाय ना देखिते रयेछ नयने-नयने ।'

(आँखें तुमको देख न पातीं; बसे हुए हो आँखों में।)

इसे सुनकर उनके पिता इतने पुलकित हुए कि उनकी आँखें छलछला आईं। बोले : "अगर देश का शासक अपनी भाषा जानता होता तो शायद कवि को उचित पुरस्कार दे सकता। मैं तो बस यही तुच्छ उपहार दे सकता हूँ।" यह कहकर उन्होंने कवि को पाँच सौ रुपये भेंट किये।

इस तरह रवीन्द्रनाथ धीरे-धीरे लोकप्रिय कवि का आसन ग्रहण करने की तैयारी करते रहे। पर बड़े-बूढ़े फिर भी कुछ-कुछ निराशा महसूस करते। कहते : "इससे क्या होना-जाना है ? इसे तो कोई ऊँची परीक्षा पास-वास करके किसी बड़े सरकारी पद पर जमना चाहिए।" इस आशा से उन्हें विलायत भेज दिया गया कि पढ़-लिख-कर बड़े अफसर या बैरिस्टर बन जायें। उस समय रवि सत्रह साल

के थे।

विलायत पहुँचकर रवीन्द्रनाथ वहाँ के सामाजिक जीवन में आँखें मूँदकर कूद पडे और उसीमें मगन हो गए। वह वहाँ के नाच-गान, साहित्य आदि हरेक विषय की तह तक गए। बहुत-से लोगों से मिले-जुले। उन्होंने वहाँ से जो चिट्ठियाँ भेजीं, वे 'योरोप प्रवासीर पत्र' नाम के संग्रह में छपी है। इन चिट्ठियों से प्रकट होता है कि कच्ची उम्र होने पर भी वह वहाँ के जीवन और रीति-नीति को कितनी सावधानी और सूझ-बूझ के साथ देख-परख रहे थे। लेकिन पढ़ाई पूरी होने के पहले ही वह १८८० में वापस बुला लिये गए।

देश लौटते ही उन्होंने 'वाल्मीकि प्रतिभा' की रचना की। इस सुन्दर गीति-नाट्य में यह दिखाया गया है कि 'रामायण' के रचयिता महर्षि वाल्मीकि डाकू से महाकवि कैसे हुए। गीति-नाट्य में शब्द बोले नही जाते, गाये जाते हैं। रवीन्द्रनाथ ने अपने जीवन में अनेक गीति-नाट्य लिखे। साथ ही ऐसे नृत्य-नाट्य भी लिखे, जिनमें गीत ही नही नृत्य भी कथा के भावों को प्रकट करते हैं।

अगले साल उन्हें विलायत भेजने की एक और कोशिश हुई। मगर वह कोशिश बेकार गई। इधर युवक कवि ने कुछ नाम कमाना भी शुरू कर दिया था। उनके गीतों के दो संग्रह निकले—'सान्ध्य संगीत' और 'प्रभात संगीत'। इनकी बड़ी प्रशंसा हुई। इन्हीं-में एक कविता वह भी थी जिसका नाम था 'निर्झरेर स्वप्नभंग'। सूरज की गरमी से वर्फ के पिघलने पर झरने का पानी जिस उद्दाम आनन्द से उमग उठता है उसीका वर्णन इस कविता में है। इसे पढ़कर दुनिया ने समझ लिया कि कवि ने अपने जीवन का मर्म पा लिया है, उसके भीतर का झरना अब उमड़ पड़ा है और आजीवन बहता रहेगा।

बच्चों के लिए लिखी गई उनकी पहली कविता 'विष्टि पड़े टापुर-टुपुर' भी इन्हीं दिनों की है। बाद में तो उन्होंने बच्चों के लिए 'शिशु', 'शिशु भोलानाथ' आदि अनेक कविता-पुस्तकें लिखी।

इसके बाद कई बरस तक उन्होंने भारत के अनेक भागों को घूम-घमकर देखा। बाईस बरस के हुए तो मृणालिनी देवी के साथ उनका ब्याह हुआ। ब्याह के थोड़े ही दिन बाद वह फिर विलायत हो आए। उन दिनों उन्होंने कई बड़ी अच्छी-अच्छी किताबें लिखीं। बच्चों का उपन्यास 'राजर्षि' भी उन्हीं दिनों का है। बाद में उन्होंने इसी उपन्यास को 'विसर्जन' नाम से नाटक का रूप दिया। इसमें दिखाया गया है कि पशु-बलि की बात कितनी क्रूर और मूर्खतापूर्ण है। एक-पर-एक कविता-कहानी उनके मानस में कमल की कलियों की तरह खिलने लगी।

धीरे-धीरे लोगों ने महसूस किया कि रवीन्द्रनाथ महान् कवि ही नहीं, विचारक और सुधारक भी हैं। इस बीच उनके बहुत-से दुश्मन भी बन गए थे। वे अनेक पत्रिकाओं में उनके खिलाफ़ बड़ी निर्मम आलोचनाएँ लिखने लगे। वे लोग यह नहीं सह पाते थे कि कोई पुरानी लीक छोड़कर चले और सहज सरल, मधुर और नये ढंग की बँगला में नये भाव प्रकट करे। लेकिन युवक-कवि की चिन्ता-धारा बड़ी बलवती थी। वह गालियों की तनिक भी परवाह नहीं करती थी। निडर होकर अपने-आपको प्रकट करती थी।

क्या नया और क्या पुराना, जहाँ भी जो कुछ उत्तम होता, उन्हें सदा उसीकी तलाश रहती थी। वह शायद ही कभी कुछ भूलते हों। बरसों बाद भी उन्हें भूत प्रेतों, बाघों और घड़ियालों की वे कहानियाँ याद रही जो कभी मछुए या महरी से सुनी थी। ये ही चीजें साहित्य का उपकरण बनती हैं। देश की रक्त-मज्जा में बहने वाली इन कहानियों ने उनके साहित्य में बड़ी ही प्यारी महक भर दी है।

अपने देश से उन्हें बड़ा गहरा और उत्कट प्रेम था। वह देश के आदर्शों का, उसकी भाषा का और उसकी जनता की विद्या का आदर करते थे। पर साथ ही, वह बाहरी ज्ञान का भी स्वागत करते थे, चाहे वह कहीं से भी क्यों न मिले। विज्ञान के क्षेत्र में और विचार



की स्वतन्त्रता के क्षेत्र में हमें पश्चिम से जो देन मिली है, उसके लिए वह पश्चिम के प्रति भी कृतज्ञ थे।

उनके पांच सन्तानें हुईं। यह जिम्मेदारी कोई कम न थी। सबके पढने-लिखने की व्यवस्था उन्होंने घर पर ही की, क्योंकि वह अपने बचपन के दिन भूले नहीं थे। उन्हे अच्छी तरह याद था कि स्कूल जाने में कितना दुःख होता है।

जमीदारी के काम से रवीन्द्रनाथ को उत्तरी और पूर्वी बंगाल तथा उड़ीसा के देहातों के चक्कर लगाने पड़ते थे। वह अक्सर महीनों तक पद्मा की धार पर तिरते अपने नाव-घर में रहा करते। वहीं से उन्होंने नदी-तट के जीवन का रंग-बिरंगा दृश्य देखा। उन्होंने देखा कि धरती के लाल कैसे जीते हैं और उनके सीधे-सादे सुख-दुःख क्या है।

इस तरह बंगाल के देहात और देहातियों के जीवन से उनका बड़ा ही गहरा और गाढ़ा परिचय हो गया। उन दिनों उन्होंने जो मनोहर कहानियाँ लिखी, वे इसी परिचय का फल है। ग्रामीण भारत की समस्याओ के बारे में उनकी समझदारी और किसानों, देहाती दस्तकारों आदि की भलाई की आकुल चिन्ता भी इसी प्रत्यक्ष सम्पर्क से पैदा हुई थी। शिक्षा के मामले में भी उनका यह विचार धीरे-धीरे स्पष्ट होता गया कि बच्चों का लालन-पालन सीधे-सादे देहाती वातावरण में प्रकृति की गोद में होना चाहिए, पुराने जमाने के आश्रमो के आदर्श पर।

आखिर उन्होंने शान्तिनिकेतन में अपने मन के अनुरूप विद्यालय बना लिया। इसके लिए उन्हें अनेक कुरबानियाँ करनी पड़ी। पुरी वाला मकान बेचना पड़ा। मृणालिनी देवी ने अपने गहने उतारकर दे दिए। १९०१ से विद्यालय चालू हो गया। वह विद्यालय अब बढ़ते-बढ़ते विशाल 'विश्वभारती विश्वविद्यालय' बन गया है।

उन दिनों कवि तो पढ़ाते थे और कवि-पत्नी विद्यालय की गृहस्थी सँभालती थी। विद्यालय में दो-तीन कोठियाँ थीं और कुछ

कच्चे झोंपड़े। पढ़ाई पेड़ों को छाया में होती थी। अब भी वहाँ कक्षाएँ पेड़ों के नीचे ही लगती हैं।

धीरे-धीरे कई गुणी सहकर्मी आ जुटे। वे भी आदर्श के लिए सांसारिक सुख को आशा छोड़कर आये थे। छात्र-संख्या बढ़ी। शिक्षण के विविध नियमों के परीक्षण होने लगे। विद्यालय चल निकला।

फीस मामूली-सी ली जाती थी। शिक्षक भी बहुत मामूली वेतन लेते। खान-पान और पहनावा निहायत सादा था। सभी नंगे पाँव रहते। पर आनन्द की मात्रा प्रचुर थी। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध प्यार-भरे थे, मानस के विकास के लिए अनन्त अवकाश था।

विद्या किताबी पढ़ाई तक ही सीमित नहीं थी। बागबानी, शरीर-साधन, खेल-कूद, समाज-सेवा, प्रकृति का अध्ययन और उसके आनन्दों का उपभोग आदि भी पढाई में ही शामिल थे।

विद्यालय के जीवन में संघर्ष की कठोरता होने पर भी आनन्द-ही-आनन्द था। रुपये-पैसे का अभाव बना ही रहता था। कवि तो अपना सर्वस्व दे ही डालते थे, दूसरे बन्धु-बान्धव भी कुछ-न-कुछ जुटाते रहते थे। जैसे-तैसे काम चल जाता था।

आश्रम बने साल-भर भी नहीं हुआ था कि मृणालिनी देवी का देहान्त हो गया। माँ के विछोह से मर्माहत सन्तानों को कवि ने भुजाओं में समेट लिया और अब वह केवल उनके पिता ही नहीं, उनकी माँ भी बन गए। तभी तो उन्होंने बच्चों के लिए इतनी सुन्दर कविताएँ लिखीं।

१९०२ से १९०७ तक बड़े दुःख के दिन रहे। उनकी दूसरी बेटी रेणुका, उनके पूज्य पिताजी और उनका सबसे छोटा बेटा शमी, तीनों एक-एक करके चल बसे और कवि को गहरा शोक दे गए। पर पारिवारिक शोक से उन्होंने न तो अपना जी छोटा किया, और न मन में कोई कड़वाहट आने दी। इन वर्षों में भी उन्होंने एक-से-एक उत्कृष्ट पुस्तकें लिखीं।

कवि पारिवारिक कर्तव्य तो पालते रहे, पर परिवार में बँधे नहीं रहे। देश-प्रेम उन्हें परिवार से बाहर भी ले गया। स्वदेशी-आन्दोलन, बंग-भंग-विरोधी-आन्दोलन और राष्ट्रीय शिक्षा के आन्दोलन में उन्होंने नेता का काम सँभाला।

देश को बड़प्पन देने वाले कामों में उनके उत्साह का ठिकाना न रहता था। लेकिन दलगत राजनीति की उखाड़-पछाड़ उन्हें असह्य थी। किसी भी तरह के कठमुल्लेपन या सामाजिक संकीर्णता को वह पास भी न फटकने देते। इसीलिए वह राजनीति को छोड़कर रचनात्मक देश-सेवा में जी-जान से जुट पड़े।

पर शैक्षणिक-सामाजिक कामों के कारण उन्होंने अपने साहित्यिक यश में कभी कोई रुकावट नहीं आने दी। उनकी कलम ने कभी रुकने का नाम न लिया। कविताओं, गीतों, उपन्यासों और नाटकों की रचना बराबर चलती रही। 'गीतांजलि' के गीतों और आज के हमारे राष्ट्रीय गीत 'जन-गण-मन' की रचना उन्हीं दिनों हुई। कवि के जीवन के प्रथम पचास वर्षों ने ही साहित्य के भंडार को भरपूर भर दिया था, लेकिन उनकी वास्तविक ख्याति बाद में हुई।

कवि ने कुल ग्यारह बार विदेश-यात्राएँ कीं। १६१२ की यात्रा में कई नामी अंग्रेज लेखकों, कलाकारों और विचारकों से उनकी गाढ़ी मित्रता हो गई। प्रसिद्ध कवि येट्स और कलाकार रोथेन्स्तायन उनके सबसे श्रद्धावान् प्रशंसक बने। उन्हीं के प्रोत्साहन से कवि ने अपने कुछ गीतों और कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किये। ये रचनाएँ 'गीतांजलि' नाम से प्रकाशित हुईं (इस नाम से एक बँगला-गीत-संग्रह पहले ही प्रकाशित हो चुका था)। अंग्रेजी 'गीतांजलि' का विदेशी पाठकों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इस पर कवि को 'नोबेल पुरस्कार' मिला, जो संसार का सबसे ऊँचा और सबसे दुर्लभ पुरस्कार है।

पुरस्कार में प्राप्त एक लाख बीस हज़ार रुपये की पूरी रकम कवि ने शान्तिनिकेतन आश्रम के कामों में लगा दी। शान्तिनिकेतन

के नाम पर इस धन से एक ग्राम-सहकारी बैंक खोल दिया गया, ताकि देहातियों का उपकार हो और उन्हें सस्ते ब्याज पर ऋण मिल सके। इस तरह उन्होंने एक ही साथ अपने आश्रम और देहातियों दोनों की सहायता की। दोनों से उन्हें अगाध प्रेम था।

बंगाल के गाँवों में नवजीवन लाने की योजना कवि के मन में बहुत दिनों से थी। आखिर शान्तिनिकेतन के पास सुरुल गाँव में इसे असली रूप दिया जा सका। 'श्री निकेतन' नाम से ग्रामीण पुनर्निर्माण का प्रतिष्ठान खोला गया। विज्ञान की सहायता से उपज बढ़ाने और कुटीर उद्योगों को उन्नत करने के लिए प्रयोग-परीक्षण शुरू किये गए। यह काम आज भी अबाध गति से चालू है। शान्ति-निकेतन और श्री निकेतन परस्पर सहयोगी संस्थान हैं। उनमें कवि के शिक्षण-सम्बन्धी और सामुदायिक विकास-सम्बन्धी विचारों को क्रियान्वित किया जाता है।

कवि के दिन बड़ी व्यस्तता में बीतते थे। विश्व-विख्यात हो जाने पर भी वह शान्तिनिकेतन में ही रहते और बच्चों को पढ़ाते। उनके साहित्यिक काम में भी एक नया ज्वार आ गया। उन्होंने गद्य-पद्य में ऐसी सुन्दर कृतियाँ भेंट की, जिनसे बँगला-साहित्य के लिए नई दिशाओं के द्वार खुल गए। उन्हीं दिनों गांधीजी से कवि का व्यक्तिगत परिचय हुआ। १९१५ के शुरू में गांधीजी शान्तिनिकेतन आये। उस समय गांधीजी के दक्षिण अफ्रीका वाले फोनीक्स आश्रम के छात्र शान्तिनिकेतन में ही थे। उस समय दोनों महापुरुषों में जो मित्रता हुई, वह दिनो-दिन बढ़ती गई।

१९१५ में अंग्रेजी सरकार ने कवि को 'सर' की उपाधि दी थी। पर १९१९ में जलियाँवाला बाग का गोली-काण्ड हुआ, जिसमें अनेक निर्दोष और निहत्थे भारतीयों को गोलियों से भून दिया गया। शोक, लज्जा और रोष से आकुल कवि ने 'सर' की उपाधि लौटा दी। उपाधि लौटाते हुए उन्होंने बड़े लाट साहब को जो पत्र लिखा था उसमें जनता पर किये गए अत्याचारों का बड़ा ही प्रबल और

वीरतापूर्ण प्रतिरोध किया था। वह पत्र अविस्मरणीय रचना है।

अपनी ग्यारह विदेश-यात्राओं में कवि ने लगभग सारी दुनिया घूम ली थी। रूस समेत पूरा यूरोप, अमरीका के दोनों महाद्वीप और एशिया के चीन, जापान, मलाया, जावा, ईरान, पश्चिमी एशिया आदि अनेक देशों में वह हो आए थे। ज्यों-ज्यों उन्होंने दुनिया देखी, त्यों-त्यों उनका यह विचार पक्का होता गया कि सभी देशों की जनता में मित्रता और प्रेम-भावना से आदान-प्रदान के बिना संसार से सुख-शान्ति की आशा करना व्यर्थ है।

इसी आदर्श पर उन्होंने १९२१ में शान्तिनिकेतन में विश्व-भारती विश्वविद्यालय की स्थापना की। कवि की यह आन्तरिक अभिलाषा थी कि विश्वभारती में संसार के सभी देशों की शिक्षा-संस्कृति के प्रतिनिधि एकत्र हों। विश्वभारती के आदर्श वाक्य के रूप में उन्होंने संस्कृत का यह सुभाषित चुना: 'यत्र विश्वम्भवत्येकनीड़म्' अर्थात् 'जहाँ सारा संसार एक ही घोंसला बन जाय!'

वह कर्म का मन्त्र लेकर पैदा हुए थे, जीवन-भर कर्म में ही लगे रहे। कौन कहता है कि कवि आलसी होते हैं या सपनों में डूबे रहते हैं। लगभग सत्तर साल की उम्र में, जब अधिकतर लोग अपने जीवन का काम समाप्त करके विश्राम लेते हैं, कवि ने नई कर्म-यात्रा शुरू की। वह चित्र-कला में जुट गए और एक-से-एक विलक्षण हजारों चित्र बना डाले, जिन्हें देखकर सारी दुनिया चकित रह गई।

चित्र-कला के लिए उनका मन इतना अधीर हो उठता था कि चित्रकारी का सामान जुटाना भी दूभर हो जाता। जो भी कुछ मिल जाता, उसी से चित्र बनाने लगते। कागज न मिलने पर पुरानी पत्रिका की जिल्द पर या रंग न रहने पर कलम-स्याही से ही चित्र-कारी करते। इस तरह उन्होंने भाँति-भाँति के दो हजार से भी ज्यादा चित्र बनाये, जो एक-से-एक सुन्दर और मनोहारी है

अब तक दुनिया ने कवि की प्रतिभा का लोहा मान लिया था। बंगाल की जनता तो उन पर जी-जान से निछावर थी। उसने बड़ी

धूम-धाम से उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ मनाई। बड़ी-बड़ी सभाएँ हुईं, नाटक खेले गए, उनके चित्रों की प्रदर्शनी लगी, विशेष प्रकाशन हुए, व्याख्यान हुए, और न जाने क्या-क्या हुआ। दूर-दूर के देशों से अतिथि आए और शुभ-कामनाओं के संदेश भी।

समारोहों के ऐन बीच में खबर आई कि गांधीजी आदि राष्ट्र-नेता गिरफ़्तार हो गए हैं। कवि को बड़ा गहरा सदमा पहुँचा। उन्होंने समारोह के सभी आनन्द-उत्सव बन्द करा दिए।

यह बात १६३१ की है। उस समय दुनिया में गांधीजी के सिवा कोई भी ऐसा तीसरा व्यक्ति नहीं था, जो रवीन्द्रनाथ की तरह लोकप्रिय हो।

इस तरह दिन बीतते रहे। बड़े कठिन दिन थे वे भी। देश स्वाधीनता के कठिन संग्राम में लगा हुआ था जिसके नेता महात्मा गांधी थे। पशु-शक्ति के दानव, फासिस्टवाद और नात्सीवाद ने सारी दुनिया में सिर उठाना शुरू कर दिया था। वे मानव-अधिकारों को निगल जाने पर तुले थे। कवि के आदर्शों और मान्यताओं को पैरों-तले रौंदा जा रहा था। यह उनकी आत्मा के लिए बड़ी कठिन यातना का कारण था। तिस पर बुढ़ापे और गिरते हुए स्वास्थ्य के कष्ट तो थे ही। लेकिन अन्त समय तक मानव के भविष्य में कवि का विश्वास अडिग रहा। उनके अन्तिम उद्‌गारों में से अनेक ऐसे हैं, जो इस अडिग विश्वास के ज्वलन्त प्रमाण हैं और जो देशवासियों के प्रति उनके विदाकालीन उपहार के रूप में अमर रहेंगे।

७ अगस्त १६४१ को राखी के दिन कवि ने अपनी आँखें मूंद लीं; वे ही आँखें, जिनसे अस्सी बरस तक उन्होंने दुनिया का न जाने कितना सौन्दर्य देखा था! जोड़ासाँको के जिस पुराने महल में वे आँखें दुनिया के प्रथम दर्शन के लिए खुली थीं, उसी में अन्तिम बार बन्द भी हुईं। बँगला पंचांग के अनुसार कवि की जन्म-तिथि पच्चीस वैसाख और निधन-तिथि बाईस श्रावण को पड़ती है। उस 'बाईस श्रावण' को सारा देश शोक से मुरझा गया था। तब तक

दूसरा विश्व-युद्ध समाप्त नही हुआ था। कवि को वह दिन देखना नसीब न हुआ, जब उनके विश्वास की विजय हुई और देश स्वाधीन हुआ। इन्ही दो चीजों के लिए कवि ने आजीवन संघर्ष किया था।

उनका जीवन उदात्त रहा और उन्होंने निर्भय होकर मृत्यु का स्वागत किया। मृत्यु का आभास पाकर उन्होंने एक गीत लिखा और इच्छा प्रकट की कि यही गीत मेरी मृत्यु पर गाया जाय। उस गीत का आरम्भ है :

'सम्मुखे शान्ति-पारावार
भासाओ तरणी हे कर्णधार !'
(सामने शान्ति-पारावार।
खोल दो नैया हे कर्णधार !)

जिसे कवि ने आजीवन प्यार किया था, जिसे वह अपना प्रेम-पात्र, मित्र और मार्ग-दर्शक मानते रहे थे, उसी ईश्वर को 'कर्णधार' बनाकर हमारे कवि इस 'तरणी' पर सवार हुए और 'शान्ति-पारावार' में उतरकर अनजान लोक में चले गए।

किसी व्यक्ति के जीवन की घटनाएँ सुनाने से ही उसका सच्चा परिचय नही मिल जाता। रवीन्द्रनाथ कैसे आदमी थे ? सुन्दर और कद्दावर थे, गठन के सुडौल और काठी के बलिष्ठ थे, आँखों में स्निग्धता और दमक थी, स्वर गम्भीर और मधुर था। उनका रस-बोध बड़ा ही उज्ज्वल था। हँसी की बात करते तो सारा मुख-मण्डल दमक उठता था। आँखें दिप उठती थी। हाजिरजवाबी में उनका जोड़ नहीं था।

लेकिन जब तन्मय होकर वह कुछ लिखने बैठते तो ऐसा लगता मानो किसी और ही दुनिया में पहुँच गए हैं। नहाना-धोना, खाना-पीना यहाँ तक कि सोना भी भूल जाते। उस समय उनके पुराने वफा-दार नौकर के सिवा किसी को भी पास जाने का साहस न होता।

लेकिन यह साधना सिर्फ अध्ययन, लेखन, संगीत या चित्रकारी तक ही सीमित नही थी। वह तो समस्त जीवन को ही एक कलाकृति

बना डालने की धुन में थे। और कला उनके लिए 'सत्यम् शिवम्, सुन्दरम्' की आन्तरिक झाँकी थी।

उन्हें जनता के प्रति जो अगाध प्रेम था उसके दर्शन उनकी रचनाओं में ही नहीं बल्कि उनके जीवन के प्रत्येक कार्य कलाप में होते थे - नये क्षितिजों के द्वार तो उन्होंने खोले ही, अपने देश के प्राचीन और मनोरम अनुष्ठान, अलंकार, वेष-भूषा, साहित्य, शिल्प-कला, संगीत, पर्व-त्योहार आदि के पुनरुद्धार के काम में भी वह बड़ी लगन और श्रद्धा से जुटे रहे।

दिखावे से उनका कोई सरोकार न था। वह सिर्फ़ वही बात करते या कहते, जिसमें उनका आन्तरिक विश्वास होता। विधाता के मंगल-विधान में उनकी आस्था अटल थी। लिखते भी वही थे, जिसे सर्वथा सत्य मानते थे - जब कभी उन्हें लगता कि मेरा मत ठीक नहीं है, तभी वे निःसंकोच अपनी भूल सुधार लेते। यह भी उनकी सत्यनिष्ठा का ही प्रमाण है।

बच्चों से उन्हें अपार प्रेम था। बच्चों को वह प्यार ही नहीं करते थे, उनमें विश्वास भी करते थे, और उनका आदर भी करते थे। उन्हें नादान, अबोध और मूर्ख नहीं, बल्कि समझदार मानते थे। उनका विश्वास था कि यदि सरल बनाकर समझाया जाय तो बच्चे कठिन-से-कठिन विषय को हृदयंगम कर सकते हैं - बच्चों को डाटने-फटकारने के बजाय अगर उनके साथ खेला जाय और बातचीत की जाय तो उनके गुण उभरकर विकास पा सकते हैं। शान्तिनिकेतन के आश्रम में वे इसी सिद्धान्त पर चलते थे।

अपनी सुख-सुविधा की उन्हे कोई परवाह न रहती थी। सादगी की सुन्दरता में उनका विश्वास अडिग था। साथ ही, वह जीवन के सुख-विलास को ठुकराते नहीं थे, वरन् उस जीवन की देन मानकर ग्रहण करते थे। लेकिन विलास के बीच भी वह निर्लिप्त रहकर सुखों का उपभोग करते थे और जब भी अवसर आता सहज भाव से इसे त्याग भी देते थे।

नकली और बनावटी चीजों से वह बचते थे। इसीसे उनका देश-प्रेम इतना गहरा हो गया था। विदेशियों के गुणों के प्रति वह श्रद्धावान् रहे, पर विदेशियों की नकल करना उनके लिए घृणा का विषय था। अपने साहित्य और जीवन से उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि हमें न तो अपने अतीत की नकल करनी चाहिए और न ग़ैरों के तौर-तरीकों की। हम जैसे हैं, सचाई से वैसे ही बने रहें, तभी हमें स्वस्थ और दृढ़ राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। ऐसी संस्कृति का जिसकी जड़ें तो देश की प्राचीन ज्ञान-भूमि में जमी रहें, पर जिसकी हरी डालियाँ आज के युग-सूर्य की रश्मियाँ ग्रहण करने के लिए चारों ओर फैली हुई हो।

उनके गीत इसी बात के प्रमाण हैं। उनकी भाषा आधुनिक है, स्वर नये है, पर उनके माध्यम से हमारे प्राचीन पुरखे भी अपनी बात कह जाते हैं। भाव, विचार, शब्द और संगीत का इतना सर्वांग-पूर्ण समन्वय सचमुच दुर्लभ है।

तभी तो इस बात पर किसी को कोई अचम्भा नहीं होगा कि रवीन्द्रनाथ के जन्म-दिन ७ मई १८६१ ई० के ठीक सौ बरस बाद आज उनके देशवासी उन्हें इतने प्यार और इतनी कृतज्ञता के साथ याद कर रहे है। और अपने देशवासी ही क्यों? शतवार्षिकी के दिन सारे संसार के लोग उन्हें याद करेंगे। उन्होंने अपनी मातृ-भूमि के प्रति सारे संसार का सम्मान और श्रद्धा अर्जित की थी। सो भी ऐसे समय में जब भारत स्वाधीन भी न होने पाया था। यह काम वह इसलिए कर सके कि उन्होंने अपने व्यक्तित्व में भारतीय चिन्ता-धारा और संस्कृति के उत्तम-से-उत्तम और उदात्त-से-उदात्त गुणों को समा लिया था।

ओ मेरे देश की मिट्टी

ओ मेरे देश की मिट्टी, तुझ पर सिर टेकता मैं।
तुझी पर विश्वमयी का,
तुझीपर विश्व-माँ का आँचल बिछा देखता मैं॥
कि तू घुली है मेरे तन-वदन में,
कि तू मिली है मुझे प्राण-मन में,
कि तेरी वही साँवली सुकुमार मूर्ति मर्म-गुँथी, एकता मैं॥
कि जन्म तेरी कोख और मरण तेरी गोद का मेरा,
तुझी पर खेल दुख कि सुखामोद का मेरा!
तुझी ने मेरे मुँह में कौर दिया,
तुझी ने जल दिया शीतल, जुड़ाया, तृप्त किया,
तुझी में पा रहा सर्वसहा सर्ववहा माँ की जननी का पता मैं॥
बहुत-बहुत भोगा तेरा दिया माँ, तुझसे बहुत लिया—
फिर भी यह न पता कौन-सा प्रतिदान किया।
मेरे तो दिन गये सब व्यर्थ काम मे,
मेरे तो दिन गये सब बंद धाम में—
ओ मेरे शक्ति-दाता, शक्ति मुझे व्यर्थ मिली, लेखता मैं।

अनु० : १८ फाल्गुन, १८८२ श०

राजा का महल

नहीं किसी को पता कहाँ मेरे राजा का राजमहल !
अगर जानते लोग, महल यह टिक पाता क्या एक पल ?
इसकी दीवारें चाँदी की, छत सोने की धात की,
पैड़ी-पैड़ी सुन्दर सीढ़ी उजले हाथी-दाँत की।
इसके सतमहले कोठे पर सूयोरानी का घरबार,
सात-सात राजाओं का धन, जिनका रतन-जड़ा गलहार।
महल कहाँ मेरे राजा का, तू सुन ले माँ, कान में :
छत के पास जहाँ तुलसी का चौरा बना मकान में !

सात समुन्दर पार कहाँ पर राजकुमारी सो रही,
इसका पता, सिवा मेरे, पा सकता कोई भी नहीं।
उसके हाथों में कँगने हैं, कानों में कनफूल,
लटें पलँग से लटकी लोटें, लिपट रही है धूल।
सोन-छड़ी छूते ही उसकी निंदिया होगी छूमंतर,
और हँसी से रतन झरेंगे झर-झर झर-झर धरती पर।
राजकुमारी कहाँ सो रही, तू सुन ले माँ कान में :
छत के पास जहाँ तुलसी का चौरा बना मकान में !

बेर नहाने की होने पर तुम सब जाती घाट पर,
तब मैं चुपके-चुपके आता हूँ उसी छत के ऊपर।

जिस कोने में छाँह पहुँचती दीवारों को पार कर,
बैठा करता वहीं मगन-मन जी भर पाँव पसार कर।
संग सिर्फ़ मिन्नी बिल्ला होता है छत पर छाँव में,
पता उसे भी है नाऊ-भैया रहता किस गाँव में।
नाऊ-टोला कहाँ, बताऊँ ?—तो सुन ले माँ कान में :
छत के पास जहाँ तुलसी का चौरा बना मकान में।

अनुवाद : १५ फाल्गुन १८८२ श०

भानुसिंह की पत्रावली की पाँचवीं चिट्ठी

तुमने अपनी किताब में शायद पढा भी हो कि कुछ पंछी बीच-बीच में अपनी जगह छोडकर समुद्र के उस पार चले जाते हैं। मैं भी वैसा ही पछी हूँ। कभी-कभी दूर समुद्र-पार से मेरी भी बुलाहट होती है। मेरे पख फड़फड़ाने लगते हैं। आजकल मैं इस तैयारी में हूँ कि इस बैसाख के बीतते न बीतते जहाज पर सवार होकर प्रशान्त महासागर के पार जाऊँ। इस बीच कोई अड़चन नहीं आ पड़ी तो निकल पड़ूँगा। पच्छिम के समुद्रों का आजकल यह हाल है कि लड़ाई के कारण उनका बरताव ही बिलकुल बदल-सा गया है। वे पार उतारने के बजाय आदमी को अपने तले की ओर ही खीचने लगे हैं। पूरब के समुद्री रास्ते अभी भी खुले है। लेकिन कौन जाने, लड़ाई का तूफान किसी न किसी दिन वहाँ भी आ पहुँचे। जो हो, काशी आने को जो दावत तुमने दी है, उसे मैं भूला नही हूँ। इस भरम में मत रहो। तुम अपनी पूरी तैयारी किये रखो। मैं रास्ते में जरा आस्ट्रेलिया, जापान, अमरीका आदि दो-चार जगहों की दावतें झटपट निबटा लूँ तो तुम्हारे पास पहुँचकर मजे में बैठा सुस्ताऊँगा और आराम करूँगा। लेकिन मेरे लिए सत्तू या रोटी, अरहर की दाल और चटनी का बन्दोबस्त करना ही काफी नही होगा। इतने से काम नही चलेगा। इसमें कोई शक नहीं कि तुम्हारे महाराज खाना बहुत बढ़िया पकाते होंगे। लेकिन मुझे तो तुम्हारे हाथ का पका हुआ चाहिए। तीती से तीती सुकतानी से लेकर मीठी से मीठी खीर तक अपने हाथ से पकाकर तुमने नही खिलायी तो—!

तो क्या करूँगा, यह निश्चय अभी तक कर नहीं पाया हूँ। सोचा था कि बिना खाये उठ जाऊँगा और उसी दम उठकर आस्ट्रेलिया चला जाऊँगा। लेकिन मुझे सन्देह है कि अपना यह निश्चय पूरा कर पाऊँगा भी कि नहीं। इसीलिए अभी कुछ भी पक्का नहीं कहता। लेकिन रसोई-पानी का अभ्यास अभी भी शायद हो नहीं पाया तुम्हें ?—तो यों कहो न ! बस, सिर्फ रटाई ही चल रही है ? अच्छा तो, अधिक से अधिक एक बरस का समय दे रहा हूँ। इसी बीच माँ से सीख रखो। यही पक्की रही। और कहीं नहीं तो कम से कम कलकत्ता तो मुझे जाना ही पड़ेगा। पिटारियों में अपने कपड़े-लत्ते सहेज रखना बहुत जरूरी है। सहेजने का काम मुझे बहुत अच्छी तरह आता है। बस एक मामूली-सा दोष है मुझमें वह यह कि जो चीजें सबसे मुख्य और जरूरी होती हैं, उन्हें सहेजना मैं अकसर भूल जाया करता हूँ। जब उनकी जरूरत आ पड़ती है, तभी यह पता चलता है कि धत्तेरे की, वह चीज़ तो लायी ही नहीं गयी ! इससे दिक़्क़त तो बेहद होती है, मगर सहेजते समय बड़ी सहूलियत रहती है। सहूलियत यह कि पिटारी में जगह भरपूर रहती है और बोझ कम होने से रेल या जहाज का भाड़ा भी काफ़ी कम पड़ता है। जरूरी चीजें छोड़कर बेजरूरी चीजें ले चलने में एक और सहूलियत यह होती है कि उन चीजों को बार-बार निकालने और रखने का झमेला नहीं रहता। सामान जस-का-तस सहेजा रह जाता है। और अगर सामान खो गया या चोरी चला गया तो काम में कोई खास हर्ज नहीं होता और न ही मन को कोई खास अशान्ति होती है। आज इससे अधिक कुछ लिखने का समय नहीं है,—क्योंकि आज तीन बजे की गाड़ी से रवाना हो जाना है। यों तो गाड़ी पकड़ना चूक जाने में मैं इतना कुशल हूँ कि बड़े-बड़े दंग रह जायँ, मगर वह कुशलता आज मेरे लिए सुभीते की चीज साबित नहीं होगी। इसलिए यह लो, तुम्हें नये वर्ष का आशीर्वाद देकर मैं टिकट लेने को यह दौड़ा ! इति

वैशाख १३२५ (बं०) अनुवाद : ११ चैत्र १८८३ श०

मेंह बरसता टपर-टुपुर

बुझा उजाला दिन का, सूरज
अब-डूबा तब-डूबा।
घिरा चाँद-लोभी मेघों से
आसमान का सूबा।
बादल पर बादल रंगों पर
रंग चढ़ाकर सज उठे,
मन्दिर में काँसे के घण्टे
ठन-ठनाठन बज उठे।
झड़ी लगी उस पार, झाड़-
झुरमुट धुंधले-धुंधले हुए।
सौ-सौ रतन मेघ के सिर पर
हैं इस पार बले हुए।
जलप्यारी में मन जाता है
बचपन के इस गान पर:
'मेंह बरसता टपर-टुपुर
नदिया का पूर उठान पर!'

सारे आसमान में खेलें
मेघ, न सीमा है कहीं।

देश-देश खेलते डोलते,
कोई मना करे नहीं।
कितने नये फूल-वन इनसे
पाते हैं जल-दान मधुर!
नये-नये खेलों को पल-पल
सोच निकालें ये चतुर!
खेल देख मेघों के, कितने
खेल उमड़ते याद में;—
डुबकी कितनी, लुका-छिपी
कितने कोनों की मांद में!
और उन्ही के संग मन जाता
बचपन के इस गान पर:
'मेंह बरसता टपर-टुपुर,
नदिया का पूर उठान पर!'

आती याद हँसी माँ की,
घर भर उजियाली छा जाती;
आती याद मेघ-गर्जन से
थर-थर कँप उठती छाती।
माँ के ही बिस्तर के कोने
में लल्ला सोया होता;
माँ पर उसके उत्पातों का
लेखा-जोखा क्या होता!
घर में उत्पाती बालक की
धमा-चौकड़ी या ऊधम,
बाहर मेघ गरज उठते,
कँप उठती सारी सृष्टि सहम।

मन जाता माँ के ही मुँह से
सुने हुए इस गान पर:
'मेंह बरसते टपर-टुपुर,
नदिया का पूर उठान पर।'

आती याद सुहागो-रानी और
दुहागो-रानी की;
आती याद कहानी कंकावती
सती अभिमानी की;
आती याद दिये की टिमटिम
लौ की मोहन-माया की;
एक ओर की भीत पर पड़ी
काली-काली छाया की।
बाहर शब्द एकरस केवल
वर्षाजल का झुप-झुप-झुप्प्।
हुआ कहानी सुनकर माँ की
नटखट लड़का बिलकुल चुप्प्।
चुप-चुप उसका मन जाता है
बादल-दिन के गान पर:
'मेंह बरसता टपर-टुपुर,
नदिया का पूर उठान पर।'

कब बरसा था मेंह,
कहाँ नदिया में आया पूर था!
शिवजी का कब व्याह हुआ,
यह सब किस युग की है कथा!
उस दिन भी क्या इसी तरह
घनघोर घटा-आटोप था?

उन दिन भी क्या ठनका-बिजली
का ऐसा ही कोप था?
आखिर फिर क्या हुआ भला
तीनों कन्याएं ब्याह कर?
पता नहीं किस देश, न जाने
किस नदिया के तीर पर
किस लड़के की निंदिया आती
किस माँ के इस गान पर.
'मेंह बरसता टपर-टुपुर,
नदिया का पूर उठान पर।'

अनुवाद १६ फाल्गुन १८८२ श०

डाक्टरी

गुप्ती टोले के विश्वम्भर बाबू पालकी पर सवार होकर सप्तग्राम जा रहे हैं। फागुन का महीना है। लेकिन जाड़ा अभी भी काफ़ी पड़ रहा है। कुछ ही दिन पहले लगभग पूरे सप्ताह भर झड़ी लगी रही। विश्वम्भर बाबू ने एक मोटा-सा कम्बल ओढ़ रखा है। पालकी के साथ उनका नौकर शम्भू चल रहा है। शम्भू के हाथ में मोटी-सी लाठी है। पालकी की छत पर दवाइयों की पिटारी है। उसे रस्सी से कसकर बाँध रखा गया है। शम्भू काफ़ी तगड़ा है। इतना बलवान है कि हैरत होती है। एक बार कुम्भीरा के जंगल में उसे रीछ ने पकड़ लिया था। उसके पास बन्दूक नहीं थी। वह बस लाठी लेकर ही रीछ से भिड़ गया। जमकर लड़ाई हुई। शंभू की लाठी की मार से रीछ की रीढ़ टूट गयी। उसमें उठने तक का बूता न रहा। ऐसी ही बात एक बार और हुई। शम्भू विश्वम्भर बाबू के साथ स्वर्णगंज गया था। वहाँ पद्मा नदी के दियारे में खाना पकाने की नौबत आ पड़ी। गर्मियों की दुपहरी थी। पद्मा के किनारे-किनारे झाऊ के छोटे-छोटे पौधों का जगल है। जलावन के लिए झाऊ काटना था। शंभू ने कुल्हाड़ी से झाऊ की डालें काटकर जमा की और उनका गट्ठर बाँधा। धूप बड़ी तेज थी। बदन जल रहा था। प्यास के मारे गला सूख रहा था। शंभू पानी पीने के लिए नदी में उतरा। तभी उसने देखा कि एक घड़ियाल एक बछड़े को पकड़े लिये जा रहा है। शंभू ने छलांग लगायी और पानी में जा रहा। घड़ियाल की पीठ पर चढ़ बैठा। कुल्हाड़ी से उसकी गरदन पर चोटें करने लगा। पानी लोहू से

लाल हो उठा। घड़ियाल छटपटाने लगा। पीड़ा के मारे मजबूर होकर उसने बछड़े को छोड़ दिया। शंभू तैर कर किनारे आ गया।

विश्वम्भर बाबू डाक्टर हैं। रोगी देखने निकले हैं। बहुत दूर जाना है। स्टीमरघाट के स्टेशनमास्टर मधू विश्वास के छोटे लड़के को अम्लशूल हो गया है। बेचारा बड़े कष्ट में है।

विष्णुपुर के पच्छिम की परती कोसों तक फैली हुई है। परती में पहुँचने तक साँझ हो आयी। चरवाहे ढोर-डंगर लेकर गोठों को लौट पड़े। विश्वम्भर बाबू ने एक चरवाहे को पुकारकर पास बुलाया। पूछा, "क्यों बेटे, बता सकते हो, सप्तग्राम कितनी दूर है?"

चरवाहा बोला, "जी, वह तो कोई सात कोस होगा। आज वहाँ न जाइये। राह में भीष्महाट की परती पड़ती है। उसके पास मरघट है। वहाँ डाकुओं का डर रहता है।"

डाक्टर बोले, "क्या करें बेटे, रोगी कष्ट में है, जाना तो होगा ही।"

तिलपनी नहर तक पहुँचते-पहुँचते रात के दस बज गये। बंधन खुल गया और दवाइयों की पिटारी पालकी की छत से गिर गयी। कैस्टरऑयल की शीशी चूर-चूर हो गयी। पिटारी को तो फिर कसकर बाँध दिया गया, मगर तब तक एकओर आफत आ पड़ी। नहर पार करके लगभग दो कोस और आगे गये होंगे कि पालकी का डंडा तड़तड़ाकर टूट गया और पालकी नीचे जमीन पर आ रही। पालकी हलकी लकड़ी की बनी थी और विश्वम्भर बाबू भारी-भरकम आदमी थे।

फिर तो रात वहीं काटनी पड़ गयी। और कोई चारा ही नहीं था। डाक्टर साहब ने घास पर कम्बल बिछा दिया। लालटेन पास ही रखी।

तभी कहारों के सरदार बुद्धू ने आकर कहा, "वह देखिये, कुछ लोग इधर ही आ रहे हैं। निश्चय ही ये डाकू हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं।"

विश्वम्भर बाबू ने कहा, "डर काहे का ? तुम सब तो हो ही ।"
बुद्धू बोला, "बलगू भाग गया है, पल्लू भी कहीं दिखाई नहीं देता। बकसी उस झुरमुट में छिप गया है। और विष्णु के तो डर के मारे हाथ-पाँव फूल गये हैं।"

सुनते ही डाक्टर साहब डर के मारे थरथर काँपने लगे। चिल्ला उठे, "शम्भू !"

शम्भू बोला, "जी साहब !"

डाक्टर साहब ने कहा, "अब क्या किया जाय ?"

शम्भू बोला, "डर काहे का ? मैं तो हूँ ही !"

डाक्टर साहब बोले, "पर वे तो पाँच हैं।"

शम्भू बोला, "मै शम्भू जो हूँ !" और उसने उठकर छलांग भरी और गरजकर बोला, "खबरदार !"

डाकू ठठाकर हँस उठे। वे आगे बढते ही गये। शम्भू ने पालकी का वही टूटा हुआ डंडा उठा लिया और घुमाकर डाकुओं की ओर फेंक मारा। निशाना ऐसा सटीक लगा कि एक ही साथ तीन डाकू गिर पड़े। फिर शम्भू ने अपनी लाठी सँभाली और डाकुओं पर टूट पड़ा। जो दो डाकू चोट खाने से बच गये थे, वे सिर पर पाँव रखकर भाग खड़े हुए।

तभी डाक्टर साहब ने पुकारा, "शम्भू !"

शम्भू बोला, "जी साहब !"

विश्वम्भर बाबू ने कहा, "अब झटपट दवाइयों की पिटारी तो निकालो !"

शम्भू ने पूछा, "क्यों उसकी क्या जरूरत आ पड़ी ?"

डाक्टर बोले, "इन तीनों की डाक्टरी तो मुझी को करनी पड़ेगी ! पट्टी-वट्टी बाँधनी पड़ेगी !"

उस समय रात थोड़ी ही और रह गयी थी। विश्वम्भर बाबू और शम्भू दोनों ने मिल-जुलकर तीनों डाकुओं की सेवा-शुश्रूषा की।

सवेरा हो गया। फटे बादलों के बीच से सूरज की किरणें झाँकने लगीं। एक-एक करके सभी कहार लौट आये। बलगू आया, पल्लू आया, बकसो का हाथ पकड़े विष्णु आया। उसका दिल उस समय भी कँपकँपा रहा था।

अनु० : ११ चैत्र १८८३ श०

रात अँधेरी क्या हुई?

रात अँधेरी क्या हुई?
पुंछी उजाले की छुई।
अभी की जगी आँखें लाल,
उषा हँसी पूरब के भाल।
किसीने कहीं से उस पार
इस चंदा को लिया पुकार,
इसीलिए सहमा-सहमा
खिसक चला है चंद्रमा।
दिये जलाये करते बात,
जगे सितारे सारी रात,
अब उतरे पथ भूल कर
जुही-मोतिया फूल पर।
दिशा-दिशा में फिरा पवन
करता सबका आवाहन।
वन-वन में पंछी चहके।
रंगों से बादल लहके।
जहाँ कहीं जल उठी लहर।
फूल खिले हर डाली पर।

अनु० : १६ फाल्गुन १८८२ शं०

नाम उसका मोती झील

नाम उसका मोती-झील बहुत दूर पर जल,
हंस उसमें तैर-तैर करें कोलाहल ।
कीच में टक बाँधे बक, उड़ती जाये चील,
तीर-से गिरें किलकिले साध निशाना : झील !
जहाँ-तहाँ घास भरे झाँकते दियारे,
बीच-बीच में बहें आँकी-बाँकी धारें।
इधर-उधर धनखेतियाँ पानी में अधडूबी,
धूप पड़े रूप बढ़े, कौन कहे खूबी ?
डोंगी पर आयें किसान काटें पके धान,
साँझ पहर लौटें घर गाते 'सारी'-गान।
भैंसें लिये पार जायें लड़के-से चरवाहे,
बाँस-बँधे जालों से मछली मार रहे मछवाहे।
आसमान में बादल बहते नजर आयें
पानी की घनी घासें बहती चली जायें।

अनु० : १६ फाल्गुन १८८२ श०

तोता-कहानी

एक था तोता। वह बड़ा मूर्ख था। गाता तो था, पर शास्त्र नहीं पढ़ता था। उछलता था, फुदकता था, उड़ता था, पर यह नहीं जानता था कि कायदा-क़ानून किसे कहते हैं।

राजा बोले, "ऐसा तोता किस काम का? इससे लाभ तो कोई नहीं, हानि जरूर है। जगल के फल खा जाता है, जिससे राजा-मण्डी के फल-बाज़ार में टोटा पड़ जाता है।"

मंत्री को बुलाकर कहा, "इस तोते को शिक्षा दो!"

२

तोते को शिक्षा देने का काम राजा के भानजे को मिला।

पण्डितों की बैठक हुई। विषय था, "उक्त जीव की अविद्या का कारण क्या है?" बड़ा गहरा विचार हुआ।

सिद्धान्त ठहरा: तोता अपना घोंसला साधारण खर-पात से बनाता है। ऐसे आवास में विद्या नही आती। इसलिए सबसे पहले तो यह आवश्यक है कि इसके लिए कोई बढ़िया-सा पिंजरा बना दिया जाय।

राज-पण्डितों को दक्षिणा मिली और वे प्रसन्न होकर अपने-अपने घर गये।

३

सुनार बुलाया गया। वह सोने का पिंजरा तैयार करने में जुट

पड़ा। पिंजरा ऐसा अनोखा बना कि उसे देखने के लिए देश-विदेश के लोग टूट पड़े। कोई कहता, "शिक्षा की तो इति हो गयी!" कोई कहता, "शिक्षा न भी हो तो क्या, पिंजरा तो बना। इस तोते का भी क्या नसीब है!"

सुनार को थैलियाँ भर-भरकर इनाम मिला। वह उसी घड़ी अपने घर की ओर रवाना हो गया।

पण्डितजी तोते को विद्या पढ़ाने बैठे। नस लेकर बोले, "यह काम थोड़ी पोथियों का नहीं है।"

राजा के भानजे ने सुना। उन्होंने उसी समय पोथी लिखनेवालों को बुलवाया। पोथियों की नक़ल होने लगी। नक़लों के और नक़लों की नक़लों के पहाड़ लग गये। जिसने भी देखा, उसने यही कहा कि, "शाबाश! इतनी विद्या के धरने को जगह भी नही रहेगी!"

नक़लनवीसों को लद्दू बैलों पर लाद-लादकर इनाम दिये गए। वे अपने-अपने घर की ओर दौड़ पड़े। उनकी दुनिया में तंगी का नाम-निशान भी बाकी न रहा।

दामी पिंजरे की देख-रेख में राजा के भानजे बहुत व्यस्त रहने लगे। इतने व्यस्त कि व्यस्तता की कोई सीमा न रही। मरम्मत के काम भी लगे ही रहते। फिर झाड़-पोंछ और पालिश की धूम भी मची ही रहती थी। जो ही देखता, यही कहता कि "उन्नति हो रही है।"

इन कामों पर अनेक-अनेक लोग लगाये गये और उनके कामों की देख-रेख करने पर और भी अनेक-अनेक लोग लगे। सब महीने-महीने मोटे-मोटे वेतन ले-लेकर बड़े-बड़े सन्दूक भरने लगे।

वे और उनके चचेरे-ममेरे-मौसेरे भाई-बंद बड़े प्रसन्न हुए और बड़े-बड़े कोठों-बालाखानों में मोटे-मोटे गद्दे बिछाकर बैठ गये।

४

संसार में और-और अभाव तो अनेक हैं, पर निन्दकों की कोई

कमी नहीं है। एक ढूँढो हजार मिलते हैं। वे बोले, "पिंजरे की तो उन्नति हो रही है, पर तोते की खोज-खबर लेने वाला कोई नहीं है !"

बात राजा के कानों में पड़ी। उन्होंने भानजे को बुलाया और कहा, "क्यों भानजे साहब, यह कैसी बात सुनाई पड़ रही है ?"

भानजे ने कहा, "महाराज, अगर सच-सच बात सुनना चाहते हों तो सुनारों को बुलाइये, पण्डितों को बुलाइये, नक़लनवीसों को बुलाइये, मरम्मत करनेवालों को और मरम्मत की देख-भाल करने वालों को बुलाइये। निन्दकों को हलवे-माँड़े में हिस्सा नहीं मिलता, इसीलिए वे ऐसी ओछी बातें करते हैं।"

जवाब सुनकर राजा ने पूरे मामले को भली-भाँति और साफ़-साफ तौर से समझ लिया। भानजे के गले में तत्काल सोने के हार पहनाये गये।

५

राजा का मन हुआ कि एक बार चलकर अपनी आँखों से यह देखें कि शिक्षा कैसे धूमधड़ाके से और कैसी बगटुट तेज़ी के साथ चल रही है। सो, एक दिन वह अपने मुसाहबों, मुँहलगों, मित्रों और मन्त्रियों के साथ आप ही शिक्षा-शाला में आ धमके।

उनके पहुँचते ही ड्योढ़ी के पास शख, घड़ियाल, ढोल, तासे, खुरदक, नगाड़े, तुरहियाँ, भेरियाँ, दमामे, काँसे, बाँसुरिया, झाल, करताल, मृदंग, जगझम्प आदि-आदि आप ही आप बज उठे। पण्डित गले फाड़-फाड़कर और चुटियाँ फड़का-फड़काकर मन्त्र-पाठ करने लगे। मिस्त्री, मजदूर, सुनार, नक़लनवीस, देख-भाल करने वाले और उन सभी के ममेरे, फुफेरे, चचेरे, मौसेरे भाई जय-जयकार करने लगे।

भानजा बोला, "महाराज, देख रहे हैं न ?"

महाराज ने कहा, "आश्चर्य ! शब्द तो कोई कम नहीं हो

रहा !"

भानजा बोला, "शब्द ही क्यों, इसके पीछे अर्थ भी कोई कम नहीं !"

राजा प्रसन्न होकर लौट पड़े। ड्योढ़ी को पार करके हाथी पर सवार होने ही वाले थे कि पास के झुरमुट में छिपा बैठा निन्दक बोल उठा, "महाराज आपने तोते को देखा भी है ?"

राजा चौंके। बोले, "अरे हाँ ! यह तो मैं बिलकुल भूल ही गया था ! तोते को तो देखा ही नहीं !"

लौटकर पण्डित से बोले, "मुझे यह देखना है कि तोते को तुम पढ़ाते किस ढंग से हो।"

पढ़ाने का ढंग उन्हें दिखाया गया। देखकर उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। पढ़ाने का ढंग तोते की तुलना में इतना बड़ा था कि तोता दिखाई ही नहीं पड़ता था। राजा ने सोचा : अब तोते को देखने की जरूरत ही क्या है ? उसे देखे बिना भी काम चल सकता है ! राजा ने इतना तो अच्छी तरह समझ लिया कि बंदोबस्त में कहीं कोई भूल-चूक नहीं है। पिंजरे में दाना-पानी तो नहीं था, थी सिर्फ़ शिक्षा। यानी ढेर की ढेर पोथियों के ढेर के ढेर पन्ने फाड़-फाड़कर कलम की नोंक से तोते के मुँह में घुसेड़े जाते थे। गाना तो बन्द हो ही गया था, चीखने-चिल्लाने के लिए भी कोई गुंजायश नहीं छोड़ी गयी थी। तोते का मुंह ठसाठस भरकर बिलकुल बन्द हो गया था। देखनेवाले के रोंगटे खड़े हो जाते।

अब दुबारा जब राजा हाथी पर चढ़ने लगे तो उन्होंने कान-उमेठू सरदार को ताकीद कर दी कि "निन्दक के कान अच्छी तरह उमेठ देना !"

६

तोता दिन पर दिन भद्र रीति के अनुसार अधमरा होता गया। अभिभावकों ने समझा कि प्रगति काफ़ी आशाजनक हो रही है। फिर

भी पक्षी-स्वभाव के एक स्वाभाविक दोष से तोते का पिंड अब भी छूट नहीं पाया था। सुबह होते ही वह उजाले की ओर टुकुर-टुकुर निहारने लगता था और बड़ी ही अन्याय-भरी रीति से अपने डैने फड़फड़ाने लगता था। इतना ही नहीं, किसी-किसी दिन तो ऐसा भी देखा गया कि वह अपनी रोगी चोंचों से पिंजरे की सलाखें काटने में जुटा हुआ है।

कोतवाल गरजा, "यह कैसी बेअदबी है!"

फौरन लुहार हाजिर हुआ। आग, भाथी और हथौड़ा लेकर। वह धम्माधम्म लोहा-पिटाई हुई कि कुछ न पूछिये! लोहे की साँकल तैयार की गई और तोते के डैने भी काट दिये गए।

राजा के सम्बन्धियो ने हाँडी-जैसे मुँह लटका कर और सिर हिलाकर कहा, "इस राज्य के पक्षी सिर्फ़ बेवक़ूफ ही नहीं, नमक-हराम भी है।"

और तब, पण्डितों ने एक हाथ में कलम और दूसरे हाथ में बरछा ले-लेकर वह काड रचाया, जिसे शिक्षा कहते हैं।

लुहार की लुहसार बेहद फैल गयी और लुहारिन के अंगों पर सोने के गहने शोभने लगे और कोतवाल की चतुराई देखकर राजा ने उसे सिरोपा अता किया।

७

तोता मर गया। कब मरा, इसका निश्चय कोई भी नही कर सकता।

कमबख्त निन्दक ने अफवाह फैलायी कि "तोता मर गया!"

राजा ने भानजे को बुलवाया और कहा, "भानजे साहब यह कैसी बात सुनी जा रही है?"

भानजे ने कहा, "महाराज, तोते की शिक्षा पूरी हो गई है!"

राजा ने पूछा, "अब भी वह उछलता-फुदकता है?"

भानजा बोला, "अजी, राम कहिये!"

"अब भी उड़ता है ?"

"नाः, क़तई नहीं !"

"अब भी गाता है ?"

"नहीं तो !"

"दाना न मिलने पर अब भी चिल्लाता है ?"

"ना !"

राजा ने कहा, "एक बार तोते को लाना तो सही, देखूंगा जरा !"

तोता लाया गया। साथ में कोतवाल आये, प्यादे आये, घुड़सवार आये !

राजा ने तोते को चुटकी से दबाया। तोते ने न हाँ की, न हूँ की। हाँ, उसके पेट में पोथियों के सूखे पत्ते खड़खडाने जरूर लगे।

बाहर नव-वसन्त की दक्षिणी बयार में नव-पल्लवों ने अपने निश्वासों से मुकुलित वन के आकाश को आकुल कर दिया।

माघ १३२४ ब०   अनु० : ११ चैत्र १८८३ श०

मुनशी

"अच्छा दादाजी, आप लोगों के वह मुनशी जी आजकल कहाँ हैं ?"

"वह समय पास आ गया लगता है, जब मैं इस सवाल का जवाब दे सकूँगा। लेकिन फिर भी हो सकता है कि कुछ दिन और धीरज धरना पड़े।'

"फिर कभी ऐसी बात की आपने, तो आपके साथ बोलचाल बन्द !"

"अरे-रे-रे, सर्वनाश ! ऐसा कर भी न बैठना कभी ! उससे अच्छा तो झूठी बात कहना ही है। तुम्हारे दादाजी जिस समय स्कूल-भगोड़े लड़के थे, उस समय उनकी उम्र---! उम्र ठीक-ठीक कितनी थी, यह कहना तो मुशकिल है !"

"वह शायद पागल थे ?"

"हाँ, वैसे ही जैसा मैं हूँ।"

"आप और पागल ? आप कब क्या कह बैठें, कौन जाने ?"

"उनके पागलपन के लक्षण सुन लेने पर तुम समझ जाओगी कि वह मुझसे कितने मिलते-जुलते थे ! उनमें और मुझमें बड़ी अनोखी समानता है।"

"कैसे भला ? सुनूँ तो सही !"

"जैसे यही कि वह कहा करते थे, 'संसार में मैं अद्वितीय हूँ ?' मैं भी यही कहा करता हूँ।"

"आप तो ठीक ही कहा करते है। लेकिन उनका दावा ठीक नही था।"

"देखो बिटियारानी, सच तो तभी सच होता है, जब वह सब पर लागू हो सके। जो सब पर लागू नही हो सकता, वह सच तो

हरगिज़ नहीं हो सकता ! विधाता ने करोड़ों करोड़ मनुष्य बनाये हैं, पर प्रत्येक मनुष्य है तो अद्वितीय ही। प्रत्येक मनुष्य को बना लेने के बाद उन्होंने अपना वह सांचा तोड़-तोड़ दिया है। तब हाँ, अधिकतर लोग ऐसे हैं, जिन्हें यह मान लेने में सुख मिलता है कि 'मैं कोई निराला नहीं हूँ, किसी भी दस-पांच जने से मिलान करने पर मैं उनके समान ही निकलता हूँ।' लेकिन संयोग से एकाध लोग ऐसे भी निकल आते हैं, जो यह जानते और महसूस करते हैं कि 'मैं बेजोड़ हूँ, मेरा कोई जोड़ वाला नहीं है।' मुनशीजी इसी तरह के आदमी थे।"

"दादाजी, मुनशीजी की बात जरा और साफ़-साफ़ बता दो ना ! तुम्हारी आधी बात तो मेरे पल्ले पड़ती ही नहीं हैं !"

"फिर तो जरा धीरज धरो, मैं क्रम-क्रम से सारी बात बता देता हूँ :

हमारे घर में मुनशीजी थे। वह भैया को फारसी पढाते थे। उनके ढांचे को बनाने में विधाता को मांस की तंगी पड़ गयी थी। थोड़ी-सी हड्डियाँ थी, जिनपर चमड़ी मढी हुई-सी थी। मोमजामे की तरह। देखकर यह अनुमान किसी को भी नहीं हो सकता था कि इनमें कितना बल-बूता है। कारण यह था कि अपने बल-बूते की बात वह बस आप ही जानते थे, किसी और को उसका कोई अता-पता न था। दुनिया के जितने भी बड़े-बड़े पहलवान होते हैं, वे सभी कभी जीतते हैं, तो कभी हारते भी है। लेकिन जिस तालीम पर मुनशीजी को गर्व था, उसमें वह कभी किसी से दबे नहीं। अपनी विद्या में किसी से उन्नीस पड़ने की कोई नजीर बाहर भले ही रही हो, उनके मन में कदापि नहीं थी। यह बात फारसी-पढाई की विद्या के मामले में होती तो लोग इसे मान लेने को सहज ही तैयार थे। लेकिन फ़ारसी की बात चलते ही मुनशीजी कह उठते कि 'अरे, वह भी कोई विद्या है !' उन्हे अपनी गायन-विद्या पर अटल विश्वास था। और उधर उनके गले का यह हाल था कि उससे घिघियाहट,

चिल्लाहट या रुलाई जैसी आवाज ही निकलती थी। मुहल्ले के लोग भागे-भागे यह पूछताछ करने आ धमकते कि इस घर में कोई आपद्-विपद् तो नही घटित हो गयी ! हमारे घर में नामी गवैये थे विष्णु। वह माथा ठोंककर कहते कि 'हाय, लगता है, मुनशीजी मेरी रोटी छिनवाकर ही रहेंगे !' विष्णु के इस हताश-भाव को देखकर मुनशी जी को कोई खास दु:ख नही होता। बस, जरा मुसकरा भर देते वह। सभी कहते, 'मुनशीजी, सचमुच भगवान् ने कितना सुरीला गला दिया है आपको !' इस प्रशंसा को मुनशीजी अपना उचित पावना मानकर ही टांक लेते। यह तो रही गायन की बात !

एक और विद्या मुनशीजी को आती थी। उसके समझने-सराहने वाले का भी नितान्त अभाव था। उनका विश्वास था कि 'अँगरेजी भाषा के मामले में कोई पकी हाड़वाला अँगरेज भी मेरे सामने टिक नही सकता ! यदि मैं चाहूँ तो वाग्मिता के मंच पर उतरकर सुरेन्द्र बनर्जी को भी देश छोड़ भागने पर मजबूर कर दूं !' लेकिन ऐसा करना उन्होंने कभी चाहा ही नही ! विष्णु की रोटी छिनने से बच गयी और सुरेन्द्रनाथ का नाम छिनने से बच गया ! यह बात छिड़ने पर भी मुनशीजी सिर्फ़ जरा मुसकरा कर रह जाते !

लेकिन मुनशीजी के आधिकारिक अँगरेजी-ज्ञान के कारण हमें अपने एक पाप-कर्म में बड़ी सहूलियत पैदा हो गयी थी। बात साफ-साफ खोलकर ही क्यों न बता दूं ! उस समय हम लोग बंगाल एकेडमी में पढते थे। स्कूल के मालिक डिकरूज साहब थे। हमारे बारे में उन्होंने यह बात पहले से ही मान रखी थी कि इन लड़कों को पढना-लिखना तो तीन काल में नहीं आ सकेगा ! लेकिन इसकी हमें कोई परवाह न थी। हमें न तो विद्या की चाह थी, न वुद्धि की ! हमारे पास मौरूसी जायदाद तो अपनी थी ही। फिर भी डिकरूज साहब के स्कूल से छुट्टी चुराने में उनके यहाँ लागू नियम आदि मानने ही पड़ते थे। अभिभावक की चिट्ठी में यह दिखलाना होता था कि छुट्टी की माँग का कारण क्या है ! वह चिट्ठी कैसी भी जाली क्यों

न हो, डिकरूज साहब आँखें मूँदकर छुट्टी दे-देते थे। उन्हें अपने माहवार पावने से मतलब रहता था। उसमें कोई घाटा न होने पर उन्हें और किसी बात की कोई परवाह न होती थी। हम मुनशीजी को बतला देते कि छुट्टी मिल गयी है। मुनशीजी मुँह दावकर मुसकरा उठते। 'मजाल है कि छुट्टी मंजूर न होती! मुनशी की अँगरेजी में तो वह जोर है, वह जोर है कि बस रे बस! यह अँगरेजी तो सिर्फ व्याकरण के धक्के से हाईकोर्ट के जज की राय पलट दे सकती है!' हम भी हाँ में हाँ मिलाते, "निश्चय हा!" लेकिन हाइकोर्ट के जज के आगे उनकी लेखनी की पेशी होने की नौवत कभी न आयी!

लेकिन उन्हें सबसे बढ़कर गर्व तो लाठी खेलने की अपनी कुशलता पर था। हमारी अँगनाई में धूप आते ही उनका खेल शुरू हो जाता। वह अपनी परछाई से लाठी खेलते। हुंकार के साथ कभी परछाई के पैर पर चोट करते, कभी गरदन पर, कभी सिर पर। और मुँह उठाकर चारों ओर देखते कि जो लोग जमा हुए हैं, उनकी राय क्या है! सभी बोल उठते, "शाबाश!" कोई कहता, "परछाईं के बाप का नसीब समझो कि वह अब तक ज्यों की त्यों बनी हुई है!" इससे एक सीख मिलती है। वह यह कि छाया से लड़ने पर कभी हारने की नौवत नही आती! एक सीख और यह मिलती है कि मन के हारे हार है, मन के जीते जीत! अपने मन में अगर यह बात बिठा ली कि मैं जीत गया, तो उस जीत को कोई भी छीन नही सकता। अंत-अंत तक जीत मुनशीजी की हा होती रही! सभी शाबाशी देते और मुशीजी मुँह दबाकर मुसकुराते!

अब तो समझ गयी होंगी कि उनके पागलपन के साथ मेरे पागलपन की समानता किन बातों में है! मै भी परछाई के साथ लड़ाई करता हूँ। उस लड़ाई में जीत मेरी ही होती है। इस बारे में मुझे कभी कोई सन्देह नही होता। इतिहास भी परछाईं से लड़ने को सच्ची लड़ाई के रूप में ही वर्णित करता है।

अनु० ११ : चैत्र १८८३ श०

वनवास

बापू मुझको राम की तरह
अगर भेज दें वन में,
तो क्या मैं जा ही न सकूँगा,
सोच रही तू मन में?
चौदह बरस हुए कितने दिन,
मुझे नही अनुमान,—
दण्डक वन है कहाँ ?—जहाँ पर
बड़ा खेल-मैदान ?
जहा कहीं हो, जा सकता हूँ,
डरने का क्या काम?
यदि भाई, लक्ष्मण सँग-सँग हो
तो वन भी हो धाम॥

वन में कुटी बना लेता मैं
घनी छाँह के बीच,—
आगे बहती नदी, कछारों
की रेती को सींच।
रखता छोटी डोंगी, जाता,
पार नदी के द्वीप,
चरना छोड़ हिरन भागे
आ जाते बहुत समीप।

पत्ते उन्हें खिलाता अपने
हाथों दोनों शाम,–
यदि भाई लक्ष्मण सँग-सँग हों
तो वन भी हो धाम॥

तरह तरह के फूलों छाये
होते पेड़ हज़ार,
सिर के बालों में लपेटता
गूँथ-गूँथ कर हार।
विविध पके फल चू-चू कर
रच देते भू की सेज,–
मैं झोली भर-भर घर लाता,
रखता उन्हें सहेज।
कमल-पात पर दोनों भाई
खाते दोनों शाम,–
यदि भाई लक्ष्मण सँग-सँग हो,
तो वन भी हो धाम॥

धूप के समय पीपल के
नीचे मुस्ताता घास पर,
चरवाहे बालक-सा बस
भरता रहता वंशी में स्वर।
मोर डाल पर, पूँछ लटकती
मानो रंगों की परी;
ऊपर लंबी पूँछ उठाये
भागी फिरती गिलहरी।
जाने कब सो जाता पाकर
छाँहों [illegible] आराम–

यदि भाई लक्ष्मण सँग-सँग हो
तो वन भी हो धाम॥

सूखी डाले और टहनियाँ
लाऊँ तोड़-बटोरकर,
साँझ पहर सुलगा अलाव
तापूँ जंगल के छोर पर।
दूर कहीं पर स्यार पुकारें,
चिड़ियाँ लौटें घोंसले,
डालों की झाँझर से झाँकी
संझा-तारा की मिले।
माँ, तेरी यादें करता मैं
जपता तेरे नाम;—
यदि भाई लक्ष्मण सँग-सँग हो
तो वन भी हो धाम॥

दादा जैसे बूढ़े ऋषि-मुनि
वन में रहें अनेक,
चरणों में प्रणाम कर सुनता
कथा एक से एक।
राक्षस-भय क्यों हो, गुह जैसा
मीत दाहिना हाथ;—
रावण मेरा क्या कर लेगा,
नहीं जानकी साथ
हनुमतो क सप्रेम खिलाता
केले—जामुन—आम;—
यदि भाई लक्ष्मण सँग-सँग हो
तो वन भी हो धाम॥

माँ, मुझको छोटा-सा भाई
दे दे यदि तू एक,–
दोनों मिलजुल खूब निभायें
वन बसने की टेक।
सिखलायगी मुझे राम की
लीला के सब गान?
जटा बाँध देगी, हाथों में
देगी तीर-कमान?
चित्रकूट पर बीतेंगी ये
बरसातें अभिराम;–
यदि भाई लक्ष्मण संग-संग हो
तो वन भी हो धाम॥

अनु० : १६ फाल्गुन '८७ ग०

छात्र की परीक्षा

छात्र श्रीमधुसूदन ! श्रीयुत् कालाचांद मास्टर पढ़ा रहे हैं।
अभिभावक का प्रवेश।

अभिभावक : मधुसूदन की पढ़ाई कैसी चल रही है, कालाचांद बाबू ?

कालाचांद : जी, मधुसूदन दुष्ट तो है, पर पढ़ने-लिखने में बड़ा तेज है। कोई बात दुबारा नहीं बतानी पड़ती। एक बार का पढ़ाया फिर कभी नहीं भूलता।

अभिभावक : सच ? तो, आज मैं उसकी परीक्षा कर देखता हूँ जरा।

कालाचांद : खुशी से।

मधुसूदन : (स्वगत) कल मास्टर साहब ने वह मार मारी कि आज भी पीठ चरचरा रही है। आज लूंगा बदला। इन्हें निकलवा न दिया तो मधु नाम नहीं।

अभिभावक : क्यों रे मधु, पिछली पढ़ाई भूली तो नहीं ?

मधुसूदन : मास्टर साहब ने जो-कुछ बता दिया है, सब याद है।

अभिभावक : अच्छा, यह तो बता कि उद्भिद् किसे कहते हैं !

मधुसूदन : उद्भिद् वह है जो मिट्टी को फोड़कर ऊपर की ओर निकलता है।

अभिभावक : कोई उदाहरण तो बताओ।

मधुसूदन : केंचुआ।

कालाचांद : (आँखें तरेरकर) ऐं ? क्या कहा ?

अभिभावक : जरा ठहरिये साहब, अभी आप कुछ न बोलिये। (मधुसूदन से) तुमने पद्यपाठ पढ़ा है;—यह बताओ कि वन में क्या खिलता है ?

मधुसूदन : काँटा।

(कालाचाँद बेंत उठाते हैं)

क्यों साहब, मारते क्यों हैं ? मैं कोई झूठ कहता हूँ ?

अभिभावक : अच्छा, सिराजुद्दौला को किसने मिटाया ? इतिहास क्या कहता है ?

मधुसूदन : कीड़ों ने।

(बेंत की मार)

जी, खामखाह मार खानी पड़ती है। सिर्फ़ सिराजुद्दौला को ही क्यों, सारे इतिहास को ही कीड़े चाट गये है। यह देखिए।

(प्रदर्शन। कालाचाँद मास्टर सिर खुजाते हैं।)

अभिभावक : व्याकरण याद है ?

मधुसूदन : जी, है।

अभिभावक : 'कर्त्ता' क्या है ? उदाहरण के साथ समझाओ तो ज़रा।

मधुसूदन : जी, कर्त्ता तो उस टोले के जयलाल मुनशी हैं।

अभिभावक : क्यों भला ?

मधुसूदन : वह हमेशा क्रिया-कर्म को ही लिये रहते हैं।

कालाचाँद : (रोष में) तुम्हारा सिर !

(पीठ पर बेंत)

मधुसूदन : (चौंककर) जी सिर नहीं, वह तो पीठ है।

अभिभावक : षष्ठी-तत्पुरुष किसे कहते हैं ?

मधुसूदन : पता नहीं।

(कालाचाँद बेंत दिखाते हैं)

इसको तो अच्छी तरह जानता हूँ,—यह है यष्टि-

तत्पुरुष।
(अभिभावक का हँसना और कालाचाँद का ठीक विपरीत भाव)

अभिभावक : अंकगणित सीखा है?

मधुसूदन : जी, हाँ।

अभिभावक : अच्छा, तुम्हें साढे छह पेड़े देकर यह कहा गया है कि पाँच मिनट तक पेड़े खाने के बाद जो पेड़े बच रहें, उन्हे तुम अपने छोटे भाई को दे दो। एक पेड़ा खाने में तुम्हें दो मिनट लगते हैं। बताओ, तुम अपने भाई को कितने पेड़े दोगे?

मधुसूदन : एक भी नही।

कालाचाँद : सो कैसे?

मधुसूदन : सब खा डालूँगा। दे नही पाऊँगा।

अभिभावक : अच्छा, वड़ का एक पेड़ रोज पाव इंच ऊँचा होता है। इस बैसाख की पहली को वह दस इंच का था, तो अगले साल बैसाख की पहली को वह कितना ऊँचा होगा?

मधुसूदन : पेड़ टेढ़ा हो जाय तब तो कहना मुशकिल हैं; हाँ, अगर सीधे ऊपर की ओर बढ़ता रहा तो नाप कर देखने पर उसकी ऊँचाई का पक्का पता लग सकेगा; और अगर इसी बीच सूख गया, तब तो कोई बात ही नही।

कालाचाँद : मार खाये बिना तुम्हारी बुद्धि का पट नही खुलता! कमबख्त, मार-मारकर पीठ लाल कर दूंगा! तभी सीधे होगे तुम!

मधुसूदन : जी, मार खाकर तो सीधी-से-सीधी चीज भी टेढ़ी हो जाती है।

अभिभावक : कालाचाँद बाबू, यह आपका भ्रम है। मारपीट से

शायद ही कोई काम बन पाता है। कहा है कि गधे को पीटकर घोड़ा नहीं बनाया जा सकता, पर अकसर घोड़ा पिटते-पिटते गधा हो जाता है। अधिकतर लड़के सीख सकते है, पर अधिकतर मास्टर सिखा ही नहीं सकते। और मार पड़ती है बेचारे लड़के पर ही। आप अपनी बेंत-छड़ी समेत यहाँ से विदा लें। कुछ दिन मधुसूदन की पीठ सुस्ता ले तो मैं आप ही इसे पढ़ाऊँगा।

मधुसूदन : (स्वगत) आह, जान बची!

कालाचाँद : जान बची, साहब। इस लड़के को पढ़ाना मजदूर का काम है; सोलहों आने मैनुअल लेबर। तीस दिन एक लड़के को पीट कर मुझे सिर्फ़ पाँच रुपये मिलते है; उतनी ही मेहनत से कहीं छत-बत पीटूँ तो कम-से-कम दस रुपये तो मिल जायेंगे!

श्रावण १३९२ ब०　　　　　　　　　　अनु० १२ पौष १८८३ श०

फूल

कल तक थी जो डाली खाली,
आज फूलों से भरी है।
तू ही भला बता दे माली,
यह कैसी जादूगरी है ?

पेड़ के भीतर से होता,
रहता इनका आना जाना।
कौन कहाँ मुँह ढाँके सोता,
किधर है इनका पता-ठिकाना ?

रहते हैं कोने में दुबके,
कान खड़े रखते हों जैसे,—
हवा बुलाती चुपके चुपके,
उसकी सुन लेते हैं कैसे ?

फिर तो सहनी देर न मुमकिन
जल्दी-जल्दी में मुँह धोकर,
सज-धज, रंग पहनकर अनगिन
घर को छोड़ भागते बाहर।

उनका वह घर कहाँ छिपा है ?
धरती के ही पास क्या नहीं ?
भैया कहते : मुझे पता है,—
उनका घर है आसमान ही।

उस पर ऊदा भूरा काला
रहता रंग-बिरंगा बादल।
वहीं से आती हवा, उजाला,
किसी चोर दरवाज़े से चल।

अनु० : २० फाल्गुन १८८२ श०

भानुसिंह की पत्रावली की तीसवीं चिट्ठी

शान्तिनिकेतन

तुम्हारा खयाल है कि मजे की बातें सिर्फ तुम्हारे स्कूल में ही हुई। इसीलिए तुमने पुरस्कार बाँटने के दिन की मजेदार बातों का चिट्ठा मेरे पास लिख भेजा है। है न? लेकिन मुझसे हार मनवा लेना इतना सहज काम नहीं है। मजे की एक से एक बातें हमारे यहाँ भी होती है और काफी ज्यादा-ज्यादा ही होती हैं। अच्छा, यह बताओ कि तुम्हारे पुरस्कार बँटवारे में कितने लोग जमा हुए थे? पचास? लेकिन हमारे यहाँ जो मेला लगा था, उसमें कम-से-कम दस हजार लोग तो रहे ही होंगे। तुमने लिखा है कि कोई लड़की पनी जीजी के पास जाकर जोर-जोर से चिल्लाने लगी और उस है उसने तुम्हारी सभा का रंग जमा दिया! लेकिन हमारे यहाँ मैदान में जो शोरगुल हुआ था, उसमें न जाने कितनी तरह की आवाजें घुली-मिली थीं। इतनी कि कोई गिनती नहीं। छोटे बच्चों का रोना, बड़ों की चीख-पुकार, डमरू की डुग-डुग, बैलगाड़ी की चरर्-मरर्, नौटंकी वालों की गला-फाड़ चिल्लाहट, आतिशबाजों के अनार की साँ-सों, सँपेरे के बीन की पीं-पीं, पटाखों के धमाके, पुलिस के चौकीदार की हो-ओ-इ हो-ओ-इ,—हँसी, रुलाई, गाना-बजाना, हाँक-पुकार, चीख-चिल्लाहट, रगड़े-झगड़े इत्यादि-इत्यादि। कोई कहाँ तक गिनाये। सार यह कि मैदान में बहुत बड़ी हाट लगी थी। उसमें लाह के खिलौने, फलों के मुरब्बे, तेल की फुलौड़ियाँ, भुनी हुई

मूंगफलियाँ, न जाने कितने ही प्रकार की एक से एक अनोखी चीजें बिकीं। बच्चों-बच्चियों ने एक-एक पैसे में चकरघिन्नी-झूले पर झूलने के मजे लूटे। नीलकण्ठ मुखर्जी की यात्रा-मण्डली चँदोवा तानकर कंस-वध का गाना-दंगल खेल रही थी। वहाँ पर इतनी भीड़ थी कि तिल धरने को जगह न थी। उसके बाद नौ पूस के दिन हमारी महिलाओं का एक और मेला लगा। महिला-मेले में समोसे और आलूदम की दूकानें थी। एक-एक आलू का आलूदम एक-एक पैसे में बिका। मुकेशी बहूरानी ने मूंगफली के खिलौने और गुड्डे-गुड़ियाँ तैयार की थी। एक-एक खिलौना छै-छै आने को बिका। सारे के सारे खिलौने बिक गये। कमल ने मिट्टी गूंधकर एक घर बनाया था। मिट्टी की दीवारें और फूस का छप्पर। अँगनाई में शिवजी की पधरावनी की गयी थी। कोई खरीदार न मिला। इसलिए कमल ने वह घर बरजोरी मेरे हाथ बेच दिया। तीन रुपये में। सोचो तो सही, कैसे-कैसे लाजवाब मजे रहे। छोटी बच्चियों ने पुराने गूदड़ का कोई टुकड़ा फाड़कर उसके चारों कोर सी दिये और कहा: "यह रूमाल है, दाम आठ आने, आपको लेना ही पड़ेगा।" और उन्होंने वह टुकड़ा मेरी जेब में ठूंस दिया। कैसी मजेदार बात हुई यह भी! महिला-मेले में ऐसी एक नहीं अनेक एक से एक मजेदार बातें हुई। तुम लोगों को जो पुरस्कार मिले हैं, वे इनके आगे क्या हैं? सबसे मज़ेदार बात यह हुई कि जब मेला बढ़ा दिया गया तो मेरे सोने के घर की ठीक खिड़की के पास वाले रास्ते से लोग लौटने लगे। चिल्ला-चिल्लाकर बेसुरे गीत गाते हुए दल के दल लोग। वह मजे लूटे कि रात भर पलक तक झिपका नहीं पाया। नीचे दुनिया भर के कुत्ते जुट आये और जी-जान लगाकर भूंकते रहे। कहो, हुई न मज़े की बात? कैसी रही? इतना ही नहीं, कलकत्ता से जो महिलाएँ आयी थीं, उनमें से अनेक अपने साथ अपने छोटे-छोटे बाल-बच्चे भी लेती आयी थी। बच्चों में किसी को खांसी लग गयी तो किसी को बुखार हो आया। इतना तो मैं निश्चय के साथ कह सकता

हूँ कि तुम्हारे पुरस्कार-वितरण समारोह में ऐसी धूमधाम, ऐसी गड़बड़, ऐसी सरदी-खाँसी, हरी-बीमारी, अठन्नी में रूमाल-बिक्री आदि मजेदार बातें बिलकुल नहीं हुई होंगी। इसलिए जीत तो मेरी ही रही।

अनु० : १३ चैत्र १८८३ श०

अनोखी चाह

अपने घर वाली गली से होकर
दस बजे जब जाता हूँ मैं शाला,
रोज देखता हूँ मैं : झल्ला सिर पर
लेकर फेरी करता फेरी-वाला।
चिल्लाता है : 'चू–ड़ियाँ ले, बुत ले !'
थैली में होते चीनी के पुतले,
फिरता रहता मनमानी राहों पर,
जब चाहा घर जा खाना खा डाला !
दस बजे या साढ़े दस या ग्यारह,
जल्दी कभी न होती अथवा देरी !
मन करता है बस्ता-स्लेट पटक कर
इसी तरह से भटकूँ करता फेरी॥

चार बजे मैं हाथ माथ दाढ़ी मे
स्याही होते घर आता तो माली
बाबू लोगों की उस फुलवाड़ी में
मिट्टी खनता मिलता लिये कुदाली।
कोई भी उसपर न फुलाता गाल :
'कहीं पाँव पर घाव न करे कुदाल' !
कितनी धूल धुरेटी तन में उसने,
पर बक-झक सुनने की बला न पाली।

माँ न उसे पहनाती धोये कपड़े,
धूल न धोती कोई ग्रैठी-ठाली !
मन करता है, मैं बाबू लोगों की
उस फुलवाड़ी का बन जाता माली ॥

थोड़ी ज़्यादा रात न होते मेरी
माँ मेरी निंदिया को पास बुलाये,
लेकिन खिड़की के बाहर चौफेरी
पगड़ी बाँधे पहरेवाला जाये।
गली अँधेरी, आवाजाही कम-कम,
बत्ती जलती टिमटिम-टिमटिम मद्धम,
लालटेन लटकाये पहरेवाला
घर के आगे रुक-रुक गश्त लगाये।
दस-ग्यारह बजते, गहराती रात,
कोई उसे न कहता लगती बात,
मन करता है, पहरेवाला बनकर
गलियों में जी भर के जागा जायें।

अनु० : १३ फाल्गुन १८८२ श०

जादू के खेल

कुसमी बोली, "अच्छा दादाजी, सुना है कि कभी तुमने बड़ी-बड़ी बातों के बारे में बड़ी-बड़ी किताबें लिखी थीं !"

"जीवन में जो अनेक बुरे काम किये हैं, उन्हें कबूल तो करना ही पड़ेगा। भारतचन्द्र ने कहा है, "बहुत अधिक बातें करते जो लोग बहुत अधिक झूठों का उनको रोग !' "

"मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि मैं तुम्हारा समय नष्ट कर देती हूँ !"

"समय नष्ट करने के लिए योग्य व्यक्ति भाग्यवानों के पास ही जुटते हैं !"

"तो मैं ही तुम्हारी वह योग्य व्यक्ति हूँ ?"

"मेरा भाग्य अच्छा था कि मिल गयीं, वरना ढूंढ़े भी नहीं मिलती !"

"तुमसे खूब लड़कपना कराती हूँ !"

"देखो, इतने-इतने दिन मैंने गम्भीरता की वरदी-पेटी पहनकर काटे हैं और सलामियाँ भी बहुत पायी हैं। अब तुम्हारे दरबार में पहुँचकर लड़कपने के ढीले-ढाले कपड़े पहने तो समझो कि राहत की साँस मिली। समय नष्ट करने की बात क्या करती हो बिटिया-रानी, एक समय ऐसा था कि समय नष्ट करने की छूट मुझे तनिक भी नहीं थी। उस समय मैं समय का गुलाम था। आज मैंने उस गुलामी से मुक्ति पा ली है। अब जो थोड़े-से दिन बच रहे हैं, वे आराम से कटेंगे। लड़कपना करने को साथी पाकर लम्बी-चौड़ी आरामकुरसी

पर टाँगें पसारे बैठा हूँ। जो जी में आयेगा, बकता चलूंगा। उसके लिए किसी के आगे सिर खुजा-खुजाकर कैफ़ियत नहीं देनी होगी।"

"इस लड़कपने के नशे में ही तुम जो जी में आता है, मनगढ़ंत बातें बनाते रहते हो!"

"कौन-सी बात बनायी है भला?"

"जैसे तुम्हारे इन ह० च० हा० साहब की बात! ऐसा अजीब-ग़रीब सिड़ी आदमी तो कहीं नहीं देखा!"

"देखो चिटियारानी, कभी-कभी ऐसे जीव पैदा होते हैं, जिनके अंग अजीब तरह के अष्टावक्री होते हैं। मेरे जादूघर में यह ह० च० हा० भी इसी तरह आये हैं।"

"इनके मिलने पर तुम्हें बड़ी ख़ुशी हुई थी?"

हाँ, सो तो हुई थी। कारण, उस समय तुम्हारी ईरू मौसी ससुराल जा चुकी थी। मुझे अवाक् कर देने वाले व्यक्ति का अभाव हो गया था। ठीक ऐसे ही समय में हरीशचन्द्र हालदार पधारे थे। पूरे सिर की गंज लेकर। चकित कर डालने की इनकी रीति और ही थी। तुम्हारी ईरू मौसी की रीति के ठीक विपरीत। एक दिन तुम्हारी ईरू मौसी ने जटाई बुढ़िया की कहानी सुनायी थी। इस जटाई बुढ़िया के साथ अमावस की रातों को ही मुलाक़ातें हो सकती थीं। उस बुढ़िया का काम था चाँद में बैठकर चरखा चलाना। वह चरखा ज़्यादा दिन चल नहीं पाया। ठीक ऐसे ही समय अपनी पारी जमाने आये प्रोफ़ेसर हरीश हालदार। नाम के शुरू में जो पदवी है, वह उन्होंने आप लगायी है। उनके हाथ ऐसी 'सफ़ाई' वाले हाथ थे, जिनसे जादू के खेलों की गहरी छनती है। एक दिन मेघल साँझ के पहर चाय के साथ तला चिवड़ा खाने के बाद वह कह बैठे कि इन्द्रजाल तो ऐसे-ऐसे भी हैं कि वह सामने जो दीवार दिखाई पड़ रही है, वह देख तेही देखते लोप हो जाय!

पंचानन भाई अपनी गंजी चाँद पर हाथ फेरते हुए बोले, 'यह

विद्या कभी थी तो सही, हमारे ऋषियों को मालूम थी।

सुनते ही प्रोफ़ेसर का पारा गरम हो गया और मेज पर मुक्का मारकर वह बोले, "अजी, रहने भी दीजिये अपने ऋषि-मुनियों को, दैत्य-दानवों को, भूत-प्रेतों को!"

पञ्चानन भाई ने पूछा, "तो आप क्या मानते हैं?"

हरीश ने छोटे-से एक ही शब्द में उत्तर दिया, "द्रव्यगुण!"

उत्सुकता के मारे आकुल होकर हमने पूछा, "यह 'द्रव्यगुण' क्या बला है भला?"

प्रोफ़ेसर कह उठे, "और चाहे जो भी हो, मनगढंत ख़याल भर नहीं है, तंतर-मंतर नहीं है, बुद्धुओं को बहलाने-बहकाने वाली कोई बात नहीं है!"

हम जानने को अड़ गये, "फिर यह 'द्रव्यगुण' है क्या, सो तो कहिये!"

प्रोफ़ेसर ने कहा, "ठहरिये समझाकर कहता हूँ। आग है तो बड़े अचरज की चीज, लेकिन तुम्हारे उन ऋषि-मुनियों की बात पर आग नहीं जला करती। उसके लिए ईंधन की जरूरत होती है। हमारा इन्द्रजाल भी ठीक वैसी ही चीज है! इसके लिए सात बरस हर्रे को आहार बनाकर तपस्या नहीं करनी होती। इसके लिए तो बस द्रव्यगुण की जानकारी हासिल कर लेना भर काफी होता है। जानकारी हो लेने पर जो चाहे वही जादू के खेल कर सकता है। तुम भी कर सकते हो, मैं भी कर सकता हूँ।"

"कहते क्या हैं, प्रोफेसर साहब? इस दीवार को हवा कर देने का काम मैं भी कर सकता हूँ?"

"क्यों नहीं भला? तोड़-फोड़ करने की जरूरत नहीं होती, जरूरत होती है माल-मसाले की!"

मैं बोला, "कह भी डालिये न! इसके लिए क्या-क्या चीजें चाहिए?"

"अभी बताता हूँ। कोई खास चीज नहीं चाहिए। बस विला-

यती अमड़े की एक गुठली और लोढ़ा-सिलवट्टा।'

मैं बोला, "यह तो बड़ी आसान बात है। अमड़े की गुठली और सिलबट्टा ला दूंगा, तुम इस दीवार को उड़ा देना।"

"अमड़े का पेड़ ठीक आठ बरस सात महीने का होना चाहिए। उसका अंकुर बदी-पाख की द्वादशी को चाँद निकलने के ठीक एक दण्ड पहले का फूटा होना चाहिए। और उसकी यह जन्मतिथि शुक्रवार को पहर भर रात रहे से पड़ी होनी चाहिए। और शुक्रवार भी अगर उन्नीस अगहन का न रहा हो तो बेकार होगा। सोच-समझ लो भाई, इसमें कहीं कोई धोखा-धड़ी या चकमा नहीं है। दिन, पहर, दण्ड-तिथि-मिति सब-कुछ पक्की तरह बँधे-बँधाये हैं।"

हमने सोचा, बात तो सुनने में बड़ी बेलाग मालूम होती है! बूढ़े माली को ऐसी लग्न-मुहूरत-चुस्त गुठली की खोज में लगा देने की बात ठहरी।

प्रोफेसर ने कहा, "एक मामली-सी शर्त और। सिलवट्टा धवलेश्वर पहाड़ की चट्टान का हो, जो तिब्बती लामाओं द्वारा कलिमपोङ के बाज़ार में बेचने के लिए लाया गया हो।"

पंचानन भाई ने गंजी खोपड़ी के इस पार से उस पार तक हाथ फेरने के बाद कहा, "मामला तो बड़ा कठिन लगता है!"

प्रोफ़ेसर बोले, "इसमें कठिनाई की कौन-सी बात है? तलाश हो तो ऐसी कौन-सी चीज है, जिसका सुराग न मिले?"

मैंने मन ही मन सोचा, तलाश तो करके रहूँगा! इनके लिए बच निकलने का कोई बहाना नहीं रहने देना चाहिए।

पूछा, "उसके बाद क्या करना होगा? सिलवट्टा लेकर क्या करेंगे?"

"ठहरिये, अभी एक छोटी-सी फ़रमाइश और है। एक दक्षिणावर्त शंख भी चाहिए।"

पंचानन भाई ने कहा, "उस शंख को पाना तो कोई हँसी-खेल नहीं! जिसे मिलता है, वह राजा हो जाता है!"

"हुँह्, राजा नही, गधे का सींग हो आता है! शंख शंख है। जिसे अपनी बँगला भाषा में कहते हैं 'शाँख'। उस शंख को अमड़े की गुठली से सिल के ऊपर रगड़ना होगा। घिसते घिसते गुठली का कोई नाम-निशान भी बचा नहीं रहेगा और शंख भी समाप्त हो जायगा। सिल घिस-घिस कर चटनी जैसा बन जायगा। बस, द्रव्य तैयार। दीवार पर उसी का लेप लगा दिया जाय। फिर और कुछ भी करने की जरूरत नहीं। इसी को कहते हैं 'द्रव्यगुण'। दीवार द्रव्यगुण से ही दीवार हुई है। किसी मंतर के बल पर नहीं। और द्रव्यगुण से ही वह फिर धुआँ बनकर उड़ जायगी। इसमें अचम्भे की बात कौन-सी है भला!"

मैंने कहा, "ठीक तो! बात बिलकुल सच लगती है!"

पंचानन भाई बायें हाथ में हुक्का लिये थे दायें हाथ को सिर पर फेरने लगे। हमारी तलाश का कोई फल नहीं निकलने के कारण यह मामूली-सी बात साबित होने से रह गयी। इतने दिनों बाद महसूस हुआ था कि ईश के मंतर, तंतर, राजमहल आदि सभी बे-सिर-पैर की बातें हैं। लेकिन अध्यापक महोदय के द्रव्यगुण में कहीं कोई ठग-विद्या नहीं! दीवार ठोस की ठोस बनी रही। अध्यापक महोदय पर हमारी भक्ति भी अडिग बनी रही। लेकिन संयोग की बात, एक बार न जाने मन की किसी भूल से परवश होकर उन्होंने द्रव्यगुण को हमारी पकड़ की पहुँच के भीतर भटक आने की छूट दे दी। दावा था, गुठली को मिट्टी में गाड़ने के घंटे भर के भीतर ही पेड़ भी तैयार मिलेगा और उसमें फल भी लगे होंगे।

हमने कहा, "आश्चर्य!"

ह० च० हा० ने कहा, "आश्चर्य की कोई बात नहीं, सब द्रव्यगुण की करामात है! गुठली को नागफनी के लासे में एक्कीस बार लपेटकर इक्कीस बार सुखाइये। उसके बाद मिट्टी में गाड़कर देखिये कि क्या होता है!"

हम शर्त पूरी करने में जी-जान से जुट पड़े। लासा लगाने और

सुखाने में लगभग दो मास लगे। अचम्भे की बात, पेड़ भी हुआ और फल भी! लेकिन घंटे भर में नहीं, पूरे सात साल में। अब समझा है कि द्रव्यगुण किसे कहते है! ह० च० हा० ने कहा :

"लासा ठीक नहीं लग पाया!"

हमने समझ लिया कि यह ठीक लासा दुनिया में कही नही मिलता। लेकिन यह समझने में समय लगा है।

अनु० : १४ चैत्र १८८३ शा०

चकाचौंध से डर उसको है

चकाचौंध से डर उसको है,
डर है मद्धिम टिमटिम से!
तोते में जितना डर, उतना
डर मीठे में, दाड़िम से!
पूरब से वह भय खाता है,
भय खाता है पच्छिम से!
जिधर देखता है, डर ही डर! —
पिंड न छुटता ज़ालिम से!
अपने घर की ईंटों से डर,
ज्यों मुजरिम को हाकिम से!
डरे अकारण पर के घर से,
थर-थर काँपे ज्यों हिम से!

उसको अपने बाहर डर है,
डर है अपने अन्तर में!
भूत-प्रेत में तो डर है ही,
डर है तन्तर-मन्तर में!
दिन के उजियाले में भय है
हर अगले की डीठ में!
और रात के अँधियारे में
भय अपनी ही पीठ में!

मास्टर साहब

आज तो मैं हूँ कन्हैया मास्टर
चटिया मेरा है बिल्ली का छौना!
इस पर थोड़े ही पड़ती है बेंत, माँ,
डंडा तो है यों ही एक डरौना।
आने में देरी करना है रोज़ यह,
पढ़ने में जी देता नहीं दिखाई।
बक-बक करता मैं, पर यह तो केवल
दायाँ पाँव उठाकर भरे जम्हाई।
रात-दिन बस खेल खेल खेल,
पढ़ने-लिखने में है बिलकुल बैल;
मैं कहता, 'पढ च छ ज झ ञ',
वह कहता बस, 'म्याऊँ म्याऊँ म्याँऽ!'

बालबोध का पन्ना खोले मैं तो
समझाता हूँ लाख कि, 'मेरे बच्चे,
चोरी करके खाना कुछ न कभी तुम,
बनना भोला-जैसे अच्छे, सच्चे!'
लेकिन सारा सिखलाना बेकार है,
कभी न देता एक सीख पर कान;—
मछली कहीं पड़ी दिख जाये तो बस
रहता दुनिया में न और-कुछ ध्यान।

गौरैया दिखते ही उस पर टूटता,
पढ़ना-लिखना छोड़-छाड़कर छूटता;
लाख सिखाऊँ, 'च छ ज झ ञ!'
पाजी कहता, 'म्याऊँ म्याऊँ म्यँ ऽ!'

मैं इसको समझाता बारंबार,
'पढ़ने का हो समय, पढो तुम जी से;
छुट्टी हो जाने पर पूरी छूट,
खेल के समय खेलो खूब खुशी से।'
बड़े भले-मानस जैसा चुपचाप
कनखी से मुंह तकता, मानो माने
मेरी कही हुई सारी बातों के
समझ रहा हो साढ़े सोलह आने!
मगर बचाकर नजर राह नापता
नौ दो ग्यारह हो जाता लापता।
मैं कहता, 'पढ़ च छ ज झ ञ,'
यह करता बस, 'म्याऊँ म्याऊँ म्यँऽ!'

अनु० : १७ फाल्गुन १८८२ श०

पौत्री श्रीनंदिनी के नाम (पत्रसंख्या तीन)

पुपुमणि,

मैं जहां हूँ, वहाँ की बात तुम सोच तक नहीं सकोगी। बहुत बड़ा मकान है, शानदार बाग़ है, दूर-दूर जहाँ तक भी नजर जा पाती है, बड़े-बड़े पेड़ों के जंगल हैं। आसमान पर बादल छाये हैं, बड़े कड़ाके की ठंड पड़ रही है, हवा में ऊँचे-ऊँचे पेड़ों की फुनगियाँ झूम-झूल रही हैं। अमिय बाबू मास्को शहर में हैं। आरियाम कहीं और गये हैं। मेरे साथ डाक्टर टिम्बर्स हैं। घड़ी पास में नहीं है, पर लगता है कि सुबह के आठ बजे होंगे। नींद खुली तो देखा कि खिड़की के बाहर अभी भी काफ़ी घना अँधेरा है, आसमान तारों से भरा है। चुपचाप पड़ा सोता रहा। उसके बाद जब थोड़ा-थोड़ा-सा उजाला हुआ तो बिस्तरे से उठा और मुँह धोकर चिट्ठी लिखने बैठ गया। पहले बापू के नाम एक लम्बी-सी चिट्ठी लिखी है और अब तुम्हें लिख रहा हूँ। लेकिन भूख लगी है। यहाँ की नौकरानी अंडे, रोटी और चाय लाने ही वाली है। वहाँ तुम शायद अब तक जग गयी होगी और तुम्हारा कोको पीना हो चुका होगा। बाहर टहलने गयी हो क्या? लेकिन हो सकता है कि तुम्हारे वहाँ बादल घिरे हों और खूब पानी बरस रहा हो। आज शाम को मोटर पर सवार होकर यहाँ से फिर मास्को शहर चला जाऊँगा। वहाँ हम लोग एक होटल में रहते हैं। यहाँ जैसा सजा-सजाया सुन्दर मकान नहीं है वहाँ। और न ही वहाँ का खाना कोई अच्छा होता है। इसीलिए जी चाहता है कि शांति-निकेतन चला जाऊँ। इस बार वहाँ लौटा तो फिर लाख हिलाये भी

वहाँ से हिलने का नाम न लूंगा। वहीं बैठा-बैठा बस केवल चित्रकारी करूँगा। और बनमाली रोज सवेरे ही सवेरे गरम काफ़ी और टोस्ट-रोटी पहुँचा दिया करेगा। उसके बाद अपने उसी लाल बजरी बिछे बाग़ में टहलने जाया करूँगा। हाथ में एक लम्बी-सी लाठी लेकर। उसके बाद—! अब रहने दो। नाश्ता आ गया है। बताऊँ, क्या आया है? काफ़ी, रोटी, मक्खन, मछली के अंडे, दो क़िस्म के पनीर, क्रीम का दही और उबले हुए दो अंडे। और इनके अलावा अंगूर, सेब, नाशपाती। खाने-पीने के बाद गरम पानी से नहाकर फिर लिखने बैठा हूँ। बादल अब बहुत-कुछ छँट गये हैं,—धूप निकल आयी है,—पेड़ों की डालें हवा में डोल रही हैं और पत्ते झिलमिल-झिलमिल चमक उठे हैं, और न जाने कितनी तरह की चिड़ियाँ गा रही हैं। इन चिड़ियों को मैं पहचान नहीं सका हूँ। आज और कुछ लिखने का समय नहीं रह गया है। इति २० सितम्बर सन् १६३० ईसवी।

—दादाजी

अनु० : १३ चैत्र १८८३ श०

पराई पीर

लल्ला अगर मैं न होता,
बल्कि होता पिल्ला,
तो क्या मुँह तेरी थाली में
देता नहीं कि रखवाली में
उठती चिल्ला-चिल्ला ?—
सच-सच कह दे झट,
मुझसे मत कर छल-कपट,—
कहती मुझको,' दुर्-दुर् दुर्-दुर्,
मुआ कहाँ से आया कुक्कुर !' ?
फिर तो रहने दे दुलार,
मुझको गोदी से उतार !
मैं तो तेरे हाथ न खाऊँ,
मैं तो तेरे पात न खाऊँ ॥

लल्ला अगर मैं न होता,
बल्कि होता तेरा तोता
तो क्या उड़ जाने के डर से
साँकल पहने जगता-सोता ?
सच-सच कह दे झट,
मुझसे मत कर छल-कपट,—
कहती मुझे, 'अभागा सुआ
दग़ा दे भगना चहता मुआ !' ?

फिर तो गोदी से उतार,
मुझे माँ नहीं चाहिए प्यार।
मैं तो रहूँ न तेरी गोद,
मनाऊँ वन में जाकर मोद।

अनु० : १२ फाल्गुन १८८२ शा०

प्रसिद्धि का कौतुक

पहला दृश्य

वकील दुकौड़ीदत्त कुरसी पर आसीन। हाथ में वही लिये
कंगाली-चरण का डरते-डरते प्रवेश

दुकौड़ी : कहिये, क्या चाहिए ?

कंगाली : जी, आप महोदय ठहरे देश-हितैषी—

दुकौड़ी : सो तो सभी ज हैं। लेकिन मामला क्या है !

दुकौड़ी : —से वकालत का पेशा चाहता हूँ, यह बात भी किसी से छिपी नहीं है; —लेकिन तुम्हें कहना क्या है ?

कंगाली : जी, कहना तो कोई खास ज्यादा नहीं है।

दुकौड़ी : तो जल्दी से निबटा ही डालो ना।

कंगाली : थोड़ा-सा डूब कर देखने पर आपको यह तो मानना ही पड़ेगा कि 'गानात् परतम् नहि'—

दुकौड़ी : भाई जान, डूब कर देखने और मानने से पहले विशेष आवश्यक यह है कि जो बात तुमने कही है, उसका अर्थ मालूम हो। उसका अनुवाद करके बताओ।

कंगाली : जी, अनुवाद तो ठीक-ठीक नहीं जानता, पर सार यह है कि गायन जो चीज है सो सुनने में बहुत आनंद आता है।

दुकौड़ी : सबको नहीं आता।

कंगाली : गायन जिसे पसन्द नहीं, वह होता है—

दुकौड़ी : वकील श्रीयुत् दुकौड़ी दत्त।

कंगाली : जी, ऐसा न कहिये!

दुकौड़ी : तो क्या झूठ कहूँ?

कंगाली : आर्यावर्त में भरत मुनि प्रथम—

दुकौड़ी : भरत मुनि पर कोई मुक़द्दमा हो तो बताओ, वरना भाषण बन्द करो।

कंगाली : बहुत बातें कहनी थी—

दुकौड़ी : लेकिन बहुत बातें सुनने को समय नहीं है।

कंगाली : तो संक्षेप में ही कहता हूँ। इस महानगरी में 'गानोन्नति-विधायिनी' नाम्नी सभा स्थापित हुई है, उसमें हुजूर को—

दुकौड़ी : भाषण करना होगा?

कंगाली : जी नहीं।

दुकौड़ी : सभापति बनना होगा?

कंगाली : जी नहीं।

दुकौड़ी : तो फिर क्या करना होगा, बताओ तो सही! गाना गाना और गाना सुनना ये दो काम मुझसे कभी न हुए, न होंगे।...यह बात मैं पहले ही से कहे दे रहा हूँ।

कंगाली : हुजूर को इनमें से एक भी काम करना नहीं होगा।

(बही बढ़ाकर)

केवल यथायोग्य चन्दा—

दुकौड़ी : (हड़बड़ाकर उठते हुए) चन्दा-ा-ा! आह, सत्यानास! तुम तो बड़े बीहड़ हो जी! भलेमानस की तरह मुंह लटका कर आये तो मैं समझा, किसी मामले-मुकद्दमे के चक्कर में पड़ गये हो। चन्दे की अपनी यह बही-वही उठाओ और अभी जाओ यहाँ

मे ! ...वरना, ट्रेसपास के जुर्म में पुलिस-केस कर दूँगा !

कंगाली : माँगा चन्दा, मिला अर्धचन्द्र ! (स्वागत) लेकिन तुम्हें सीधा करके रहूँगा !

दूसरा दृश्य

(कई अखबार लिये हुए दुकौड़ी बाबू)

दुकौड़ी : बड़ा मज़ेदार मामला है यह तो ! कंगालीचरण नाम का न जानें कौन आदमी है यह, जिसनें अंगरेजी, बँगला वगैरह सभी अखबारों में खबर छपवायी है कि वकील दुकौड़ीदत्त ने, यानी मैंने, इन लोगों की 'गानोन्नति विधायिनी' सभा को पाँच हज़ार रुपये दान किये हैं ! दान तो जाय भाड़ में, मैंने सिर्फ गरदनिया देना ही बाक़ी रखा था ! खैर जो हो, घलुए में नाम तो खूब हो गया मेरा ! इससे मुझे अपने पेशे में बड़ा सुभीता रहेगा, काफ़ी मदद मिलेगी। सुभीता तो उनका भी होगा ही; लोग समझेंगे कि पाँच हज़ार रुपये दान में मिले हैं, जरूर कोई भारी-भरकम सभा होगी ! फल यह मिलेगा कि और भी कितने लोगों से चन्दे में भारी-भारी रकमें वसूल होंगी ! जो हो, मेरा नसीब अच्छा है।

(किरानी बाबू का प्रवेश)

किरानी : तो हुजूर ने गानोन्नति सभा को पाँच हजार रुपये का दान दिया है ?

दुकौड़ी : (सिर खुजाते हुए) आ-ऽ-ऽ..., अरे वह भी कोई बात में बात हुई ! सुनते ही क्यों हो ? किसने कहा कि दिये हैं ? और मान लो कि दिये ही हैं, तो यह कौन-सी बड़ी बात हो गयी ? इतने गुल-गपाड़े की जरूरत ही क्या है ?

किरानी : आहा, विनयी हो तो ऐसा ! नकद पाँच हज़ार रुपये देकर छिपाने की कोशिश ! ···यह किसी ऐसे-वैसे का काम नहीं !

(नौकर का प्रवेश)

नौकर : नीचे के कमरे में बहुतेरे लोग जमा हैं।

दुकौड़ी : (स्वगत) : देखा न ! ···एक ही दिन में कितना नाम फैल गया ! (आनन्द के साथ, प्रकट) उन्हें एक-एक करके ऊपर ले आना ।···और हाँ, पान-तम्बाकू दे जा।

(एक व्यक्ति का प्रवेश)

दुकौड़ी : (कुरसी खिसकाकर) : आइये, विराजिये । और हाँ साहब, तब तक पान-तम्बाकू से तो शौक़ फरमाइये। अरे—, पान दे जा।

अभ्यागत : (स्वगत) : आहा, कैसी निश्छल प्रकृति है ! इनसे साध न पुजी तो फिर किससे पुजेगी ?

दुकौड़ी : तो फ़रमाइये साहब, 'केहि कारन आगमन तुम्हारा' ?

अभ्यागत : आपकी वदान्यता देश विख्यात···

दुकौड़ी : अजी, उन अफ़वाहों को सुनते ही क्यों हैं ?

अभ्यागत : जवाब नहीं इस विनय का ! महोदय का केवल नाम ही नाम श्रुतपूर्व था। आज चक्षु-कर्ण-विवादभंजन हो गया।

दुकौड़ी : (स्वगत) . अब असली बात पर आया जा सकता है। बहुत लोग बैठे हैं। (प्रकट) तो जनाब ने अपने आगमन का अभिप्राय नहीं बताया ?

अभ्यागत : देशोन्नति के उद्देश्य को हृदय का···

दुकौड़ी : जी, छोड़िये उन बातों को···

अभ्यागत : सो भी ठीक ही कहा। महानुभाव की तरह जिन

महानुभाव व्यक्तियों ने भारत-भूमि के—

दुकौड़ी   अच्छा, आप ही जीते, मैं हारा। आपकी सारी बातें माने लेता हूँ। इसलिए अपने वक्तव्य के इस अंश को छोड़ दीजिये। उसके बाद—

अभ्यागत : विनयी के स्वभाव का तो लक्षण ही यही है कि अपना गुणानुवाद—

दुकौड़ी : मुझ पर रहम खाइये साहब। असल बात बताइये।

अभ्यागत : जानते हैं, असल बात क्या है? हमारा देश दिन पर दिन अधोगति को प्राप्त हो रहा है।

दुकौड़ी : इसका एकमात्र कारण यह है कि हम बात को संक्षिप्त करना नही जानते।

अभ्यागत : हमारा भारतवर्ष, हमारी स्वर्ण-शस्य-शालिनी पुण्य भूमि दरिद्रता के अन्ध-कूप में—

दुकौड़ी · (कातर-भाव से सिर पर हाथ देकर बैठते हुए): कहे जाइये।

अभ्यागत : दरिद्रता के अन्ध-कूप में दिनानुदिन निमज्जमाना।

दुकौड़ी · महाशय, कुछ भी समझ नहा पा रहा हूँ।

अभ्यागत   तव आपको मुद्दे की बात बता दूँ—

दुकौड़ी : (आनन्द और आग्रह पूर्वक) हाँ, वही ठीक होगा।

अभ्यागत : अगरेजों ने लूट लिया है और आज भी वे हमें लूट रहे है।

दुकौड़ी · हाँ, यह एक बात हुई। वहुत अच्छी वात है। प्रमाणों को एकत्र कीजिये तो मजिस्ट्रेट की अदालत में मुक-दमा पेश कर दूँ।

अभ्यागत : मजिस्ट्रेट भी लूटता है।

दुकौड़ी : तो फिर जिला-जज की अदालत में—

अभ्यागत : जिला-जज तो डाकू है!

दुकौड़ी : (चकित-सा होकर) आपकी बात जरा भी समझ में

नहीं आ रही।

अभ्यागत : मैं कह रहा हूँ, देश का धन विदेश जा रहा है।

दुकौड़ी : दुख की बात है।

अभ्यागत : इसीलिए एक सभा–

दुकौड़ी : (चौंककर) सभा !

अभ्यागत : यह देखिये ना, बही–

दुकौड़ी : (आँखें फाड़कर) बही !

अभ्यागत : यथायोग्य चन्दा।

दुकौड़ी : (कुरसी से उछलकर) चन्दा ! निकल जाओ ! निकलो यहाँ से ! निकलो ! निकलो !

(हड़बड़, कुरसी उलटना, स्याही गिरना, अभ्यागत की वेग-पूर्वक प्रस्थानोद्यति, पतन, उत्थान, गड़बड़)

(दूसरे व्यक्ति का प्रवेश)

दुकौड़ी : कहिये, क्या चाहिए ?

दूसरा : महानुभाव की देश विख्यात वदान्यता।

दुकौड़ी : यह सब हो चुका—हो चुका…कोई नयी बात हो तो कहिये।

दूसरा : आपकी देश-हितैषिता।

दुकौड़ी : हाय, मर गया ! यह भी वही बातें कहता है !

दूसरा : स्वदेश के समस्त सदनुष्ठानों में आपका सदनुराग।

दुकौड़ी : यह तो विषम विपत्ति जान पड़ती है। असल बात साफ़-साफ खोलकर कह डालिये।

दूसरा : एक सभा–

दुकौड़ी : फिर सभा !

दूसरा : यह देखिये ना, बही–

दुकौड़ी : वही-वही ! काहे की वही ?

दूसरा : चन्दा वसूल–

दुकौड़ी : चन्दा ! (हाथ पकड़ के घसीटते हुए) उठो,–

निकल जा-ा-ा-व् ! निकलो ! प्राणों का मोह हो तो···

(चन्दा माँगने वाले का द्विरुक्ति के बिना ही प्रस्थान; तीसरे व्यक्ति का प्रवेश)

दुकौड़ी : देखिये साहब, मेरी देश-हितैषिता, वदान्यता, विनयशीलता आदि सभी बातें समाप्त हो चुकी है। उनके बाद से प्रारम्भ कीजिये।

तीसरा : आपकी सार्वभौमिकता, सार्वजनीनता, उदारता–

दुकौड़ी : खैर, फिर भी कुछ बेहतर है। शब्द नये तो लगते हैं। परन्तु महानुभाव, ये बातें रहने ही दें, भाखा में बात शुरू करें।

तीसरा : हमारा एक पुस्तकालय–

दुकौड़ी : पुस्तकालय ? सभा तो नहीं न ?

तीसरा : जी, नही। सभा नही।

दुकौड़ी : आह, जान बची ! पुस्तकालय। अति उत्तम। उसके बाद से कहे जाइये।

तीसरा : यह देखिये ना ! प्रॉसपेक्टस !

दुकौड़ी : वही तो नही ?

तीसरा : जी नहीं। वही नही है, छपा हुआ काग़ज़ है।

दुकौड़ी : आह ! फिर ?

तीसरा : यथायोग्य चन्दा–

दुकौड़ी : (उछलकर) चन्दा ! ओ–रे, अरे मेरे घर डाका पड़ा रे ! पुलिस, पुलिस !

(तीसरा व्यक्ति का उर्द्धश्वास पलायन)

(हरशंकर बाबू का प्रवेश)

दुकौड़ी : आच्छा, हरशंकर ! आओ आओ, भई, आओ ! कालेज की पढ़ाई के दिनों का वह साथ ! हाय, उसके बाद से तो कभी मुलाक़ात ही नहीं हुई ! क्या

बताऊँ, तुम्हें देखकर कितना आनन्द मिला है !

हरशंकर : भाई, तुम्हारे साथ सुख-दुःख की बहुत-सी बातें करनी हैं ! लेकिन सो सब पीछे होंगी; पहले एक बात काम की हो ले।

बुकौड़ी : (पुलकित होकर) काम की बात बड़ी देर से कोई सुनने को नही मिली। कहो भाई, कहो, सुनकर कान जुड़ायें।

(हरशंकर दुशाले के भीतर से बही निकालते हैं)

अरे, यह क्या है यह ? कुछ बही जैसी चीज निकली आ रही है !

हरशंकर : हमारे मुहल्ले के लड़कों ने मिलकर एक सभा–

बुकौड़ी : (चौंककर) सभा !

हरशंकर : सच, सभा ही है। सो, कुछ चन्दे के लिए।

बुकौड़ी : चन्दा ! देखो भाई, तुम्हारे साथ मेरा पुराना प्रेम-भाव है, लेकिन इस शब्द का अगर फिर मेरे सामने उच्चारण किया तो समझ रखो कि सदा-सदा के मुँह-फुलौवल निश्चित है। कहे देता हूँ, हाँ !

हरशंकर : अच्'''छा-ा ! तुम न जाने कहाँ की खरयाती-छदामी 'गानोन्नति' सभा को तो पाँच-पाँच हजार रुपये का दान दे सकते हो, पर मित्र के अनुरोध पर पाँच रुपये के ऊपर दस्तखत नही कर सकते ! अब कौन पाखंडी नराधम होगा, जो यहाँ पर थूकने को भी आये !

(तेजी से प्रस्थान)

(हाथ में बही लिये एक व्यक्ति का प्रवेश)

बुकौड़ी : बही ? फिर बही ? भागो, भाग जा-ा-ग्व् !

बहीवाला : (डरकर) मैं नन्दलाल बाबू का'''

बुकौड़ी : नन्दलाल-फन्दलाल मैं कुछ नहीं समझता, अभी भाग जाओ यहाँ से !

बहीवाला : जी, वह रुपया।

दुकौड़ी : रुपया-उपया मैं नहीं देने का ! भागते हो कि नहीं ? अभी...

(बहीवाले का भागना)

किरानी : हुजूर, यह क्या कर दिया आपने ? नन्दलाल बाबू के वहाँ से आपका पावना लाया था वह। उस रुपये के वसूल हुए बिना आज का काम कैसे चलेगा ?

दुकौड़ी : सत्यानाश ! बुलाओ उसे, बुलाओ !

(किरानी का प्रस्थान और कुछ क्षण बाद प्रवेश)

किरानी : वह तो चला गया। कहीं दिखाई नहीं पड़ा।

दुकौड़ी : लगता है, घनघोर घनचक्कर में आ फँसे हैं। क्या मुसीबत है !

(तानपूरा लिए एक व्यक्ति का प्रवेश)

क्या है ?

तानपूरेवाला : आप जैसा रसज्ञ कौन होगा ? संगीत की उन्नति के लिए आपने क्या नहीं किया ! आपको गाना सुनाऊँगा।

(झट तानपूरा छेड़कर गाने लगना)

(इमन कल्याण)

जय जय दुकौड़ि दत्त,
जग में अनुपम महत्त्व। इत्यादि।

दुकौड़ी : अरे सत्यानास, सत्यानास ! रुको।

(तानपूरा लिये दूसरे व्यक्ति का प्रवेश)

दूसरा : यह कमबख्त गाना क्या जाने महानुभाव ? मेरा सुनिये :

धन्य दुकौड़ी दत्त धन्य,
महिमा तव जाने कौन अन्य।

पहला : जय-अ-ज-अ-अ-अ-अ-अ—

दूसरा : ध-अ-अ-अ-अ-अ-न्य-अ-अ–

पहला : दुकौ-ो-ो-ो

दुकौड़ी : (कानों में उँगली डालकर) अरे-रे मैं तो गया, गया, बचाओ, बचाओ।

(तबलों का जोड़ा लिए तबलची का प्रवेश)

तबलची : जनाब, संगत-वंगत नदारद तो गाना कैसा ? ऐसा भी कहीं हुआ है ?

(तबला बजाता है)

(दूसरे तबलची का प्रवेश)

दूसरा तबलची : यह चमार का, संगत करना क्या जाने ? इसे तो बायाँ पकड़ना तक नहीं आता।

पहला तबलची : तू ठहर जा बेटे !

दूसरा तबलची : तू ही ठहर जा ना !

पहला : तुझे गाने-बजाने से क्या वासता ?

दूसरा : तू क्या जानता है ?

(दोनों तानपूरे वाले 'ओड़व-खाड़व-प्रणव नाद उदारा तारा' पर बहस करते हैं)

(अन्त में तानपूरों की लड़ाई)

(दोनों तबलची बोलों की काट-कटौवल करते हैं : 'धिकिटि दिधि धिनि गिधि धिनि…')

(अन्त में तबलों की लड़ाई)

(गवैयों, बजवैयों और बही वाले-चन्दे वालों का प्रवेश)

पहला : साहब, गाना।

दूसरा : साहब, चन्दा।

तीसरा : साहब, सभा।

चौथा : आपकी वदान्यता।

पाँचवाँ : इमन कल्याण का खयाल।

छठा : देश का मंगल।

सातवाँ : सोरी मिञा का टप्पा।

आठवाँ : अरे, तू जरा ठहर जा ना बेटे।

नवाँ : मुझे अपनी बात तो कह लेने दे, थोड़ी देर चुप कर ले ना भाई!

(सभी दुकौड़ी की चादर पकड़कर चारों ओर खींचते हैं)

('सुनिये साहव, मेरी बात सुनिये साहब' इत्यादि)

दुकौड़ी : (कातर-भाव से, किरानी के प्रति) मैं तो चला ननिहाल। कुछ दिन मामा के पास ही रहूँगा। किसी को मेरा पता मत बताना।

(प्रस्थान)

(घर में दिन भर गवैयों-बजवैयों का कुरुक्षेत्र-युद्ध)

(साँझ को झगड़ा निबटाने में आहत होकर किरानी का पतन)

माघ १२६२ ब०   अनु० : १३ चैत्र १८८३ श०

ताड़ का पेड़

लम्बा ताड़ एक टाँग पर खड़ा
सारे पेड़ों से बड़ा
झाँक रहा आसमान।
लालसा है : काले बादल छेद कर
उड़ जाये बहुत ऊपर–
कौन करे पाँख दान ?

तभी तो वह ठीक माथे के ऊपर
गोल गोल पत्तों पर
मन की चाह को पसार
जपता शायद : डैना तो यही अपना,
उड़ जाना नहीं मना
छोड़-छाड़ के घरबार !

दिन-दिन भर झर-झर-झर झर-झर-झर
कँपकँपा पत्ते थर-थर
सोचता : मैं उड़ रहा
मन ही मन में ताराओं से कतरा कर
आसमान के चक्कर
काटता जहाँ-तहाँ !

उसके बाद	झोंकों के पड़ते ही मन्द
कँपना हो जाता है बन्द,
घर को मुड़ आता है मन—
सोचता है :	मिट्टी तो है माता, रे,
लगते हैं बहुत प्यारे
इस धरती के घर-आँगन।

२ कार्तिक १३२८ बं०	अनु० ८ फाल्गुन १८८२ श०

शिक्षारम्भ

हम तीन बालक थे, जिनका लालन-पालन संग-संग हो रहा था। मेरे दोनों संगी मुझसे दो-दो बरस बड़े थे। गुरुजी से पढ़ना मैंने भी उनके साथ ही शुरू किया था, पर उसकी तो मुझे कोई याद भी नहीं।

याद है बस: 'जल बरसा, मन हरसा!' उस समय 'कमल, खरल' आदि की वर्तनी का तूफ़ान झेलकर अभी-अभी किनारे लगा था। अब 'जल बरसा, मन हरसा' पढ़ रहा था। मेरे जीवन में आदि-कवि की प्रथम कविता यही है। उस दिन का आनन्द आज भी जब याद आता है, तब यह समझने में कोई अड़चन नहीं रह जाती कि कविता में तुक नाम की चीज़ किसलिए होती है। तुक रहने के कारण ही बात पूरी हो चुकने पर भी पूरी चुक नहीं पाती। कहने की बात के चुक जाने पर भी उसकी झंकार बच रहती है। तुक को लेकर कान और मन के खेल फिर भी चलते रहते हैं। इसी तरह उस दिन भी मेरी सारी चेतना में बार-बार हिर-फिरकर 'जल बरसता' रहा और 'मन हरसता' रहा!

बचपन के उन दिनों की एक और बात मन में बसकर रह गयी है। हमारे एक बड़े पुराने खज़ांची थे, कैलास मुखर्जी। वे हमारे परिवार के अंग जैसे ही थे। बड़े रसिक थे। सबके साथ हँसी-ठिठोली करते रहते थे। हमारे घर के नये-नये दामाद बने लोग तो उनकी ठिठोली से पनाह माँगते थे। लोगों का कहना है कि मरने के बाद भी उनके कौतुकी स्वभाव में कोई कमी नहीं आयी। एक बार हमारे

गुरुजन प्लानचेट के सहारे परलोक से डाक मँगाने की धुन में लगे थे। एक दिन प्लानचेट की पेनसिल ने जो लकीरें बनायी, उनसे कैलास मुखर्जी का नाम बनता था। उनसे पूछा गया: "आप जहाँ हैं, वहाँ का इन्तज़ाम कैसा है?" उत्तर मिला: "जो बात मैंने मर-कर जानी है, उसे आप धोखे से जीते-जी ही जान लेना चाहते है? यह नहीं हो सकता!"

वही कैलास मुखर्जी मेरे बचपन में मुझे बहलाने के लिए कोई लम्बा-सा फकड़ा सुनाते थे। फकड़े के पदों को वे बड़ी सरपट तेजी से भगाते थे। उस फकड़े का प्रधान नायक था मैं और उसमें एक भावी नायिका के निस्संशय समागम की आशा अत्यन्त ज्वलन्त भाव से वर्णित थी। भवितव्यता की गोद को आलोकित करती हुई विराज रही उस भुवन-मोहिनी वधू का चित्र मेरी आँखों में नाच उठता था और मेरा मन बहुत ही उत्सुक हो उठता था। फकड़े में उस वधू के नख से शिख तक के अनमोल अलंकारों की जो तालिका होती थी और मिलन के उत्सव के जिस अपूर्व समारोह का वर्णन होता था, उससे कितने ही वयस्क विवेकी जनों के मन भी चंचल हो जाते थे। लेकिन मेरे बालक-मन के मत्त हो उठने का और आँखों के आगे रंग-बिरंगे अद्‌भुत सुख की छवि के दर्शन करने लगने का मूल कारण कुछ और ही था। वह था प्रबल वेग से उच्चारित उन अनर्गल शब्दों की घटाटोप छटा का जादू और छन्द के झूले में झूलते स्वर का नशा। बचपन में साहित्य-रस का पान करने के सुख की ये दो यादें आज भी मेरे मन में जाग रही हैं। एक याद और है। वह है: "मेह बरसता टपर-टुपुर, नदिया का पूर उठान पर!" यह फकड़ा मानो मेरे बचपन का मेघदूत था।

उसके बाद की जो बात याद आती है, वह स्कूल जाने की सूचना की है। एक दिन देखा कि मेरे बड़े भाई और उम्र में मुझसे बड़े मेरे भानजे सत्यप्रसाद तो स्कूल चले गये और मुझे स्कूल जाने के योग्य माना ही नहीं गया। अपनी योग्यता का प्रचार करने के

लिए रो-रोकर आसमान सिर पर-उठा लेने के सिवा मेरे पास और कोई चारा ही नहीं था। इसके पहले न तो कभी गाड़ी पर चढ़ने का अवसर मिला था और न ही घर से बाहर होने का। ऐसी अवस्था में जब सत्यप्रसाद स्कूल-पथ के भ्रमण के वृत्तान्त को प्रतिदिन अतिशयोक्ति अलङ्कार के सहारे उज्ज्वल से उज्ज्वलतर बना-बनाकर प्रस्तुत करने लगे, तो मन को घर की चहारदीवारी में ही सन्तुष्ट रखना असम्भव हो उठा। घर पर जो गुरुजी हमें पढ़ाते थे, उन्होंने मेरे मोह का नाश करने के लिए प्रबल थप्पड़ के आघात के साथ यह सार-गर्भ बात कही थी : "इस समय स्कूल जाने के लिए जितना रो-धो रहे हो, उससे कहीं अधिक रोओगे स्कूल से छुटकारा पाने के लिए!" उन शिक्षक महोदय के नाम-धाम, आकृति-प्रकृति आदि के बारे में मुझे कुछ भी याद नहीं है, पर वह मर्म-भरा गुरु-वाक्य और उससे भी गुरुतर वह तमाचा-आघात आज भी मेरे मन में अत्यन्त स्पष्ट भाव से जाग्रत है। इतनी बड़ी अव्यर्थ भविष्यवाणी अपने जीवन में और कभी भी कर्ण-गोचर नहीं हुई।

रुलाई के बल-बूते पर ही मैंने ओरियंटल सेमिनरी में अपनी अकाल-भरती करवा ली। वहाँ पर शिक्षा-लाभ क्या किया, सो तो बिलकुल याद नहीं; पर वहाँ की शासन-प्रणाली की एक बात अच्छी तरह याद है। पाठ सुनाने से चूकने वाले लड़के को बेंच के ऊपर खड़ा करा दिया जाता था और उसके दोनों हाथ पसरवाकर हथेलियों के ऊपर क्लास की बहुत सारी स्लेटें बटोरकर लाद दी जाती थीं। 'धारणा-शक्ति' का अभ्यास इस प्रकार बाहर से भीतर की ओर संचारित हो सकता है या नहीं, यह मनोविज्ञान के विद्वानों का विचारणीय विषय है।

इस प्रकार एकदम शैशव-काल में ही मेरी पढ़ाई का श्रीगणेश हो गया। मेरी साहित्य-चर्चा का सूत्रपात उन पुस्तकों से हुआ, जो उस समय हमारे नौकर-चाकरों के क्षेत्र में प्रचलित थीं। ऐसी पुस्तकों में चाणक्य-नीति के श्लोकों का बँगला अनुवाद और कृत्तिवास की रामायण ही प्रमुख थीं। उस रामायण की पढ़ाई का एक दृश्य आज

भी मेरे मानस-पट पर बहुत ही स्पष्ट रूप में अंकित है।

आसमान पर बादल छाये हुए थे। बाहरवाले मकान के गली-किनारे वाले बरामदे पर खेल रहा था। पता नहीं कि किस कारण से, सत्यप्रसाद मुझे डराने के लिए एकाएक 'पुलिस-पुलिस' चिल्ला उठा। पुलिस वाले के कर्त्तव्य के बारे में एक अत्यन्त मोटे प्रकार की धारणा मेरे मन में आ चुकी थी। मैं इतना भर जानता था कि किसी को अपराधी बताकर पुलिस के हवाले करो नहीं कि उस अभागे की शामत आ जाती है। जिस प्रकार घड़ियाल अपने शिकार को अपने छिदरे दाँतों से बेधकर पानी-तले अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार अपराधी को धर दबाना और फिर अतल-स्पर्श थाने में अन्तर्धान हो जाना ही मैं पुलिस-कर्मचारी का स्वाभाविक धर्म मानता था। ऐसी निर्मम शासन-विधि से निरपराध बालक का परित्राण कहाँ हो सकता है, यह सोचने में असमर्थ होकर मैं सीधे अन्तःपुर की ओर दौड़ पड़ा। पीछे से उनके अनुसरण कर रहे होने के अन्ध-भय ने मेरे समस्त पृष्ठदेश को कुण्ठित कर डाला था। भीतर पहुँचकर मैंने माँ को अपनी आसन्न विपत्ति का संवाद सुनाया। पर मेरा निवेदन सुनकर उनमें किसी विशेष उत्कण्ठा का कोई लक्षण प्रकट नहीं हो सका। फिर भी बाहर जाना मुझे निरापद तो प्रतीत नहीं ही हुआ। दीदी-माँ किसी एक सम्बन्ध से मेरी माता की काकी लगती थीं। वह कृत्तिवास की रामायण पढ़ा करती थी। मारबुल-काग़ज़ से मढ़ी कोनों पर फटे मलाटवाली वही मलिन पुस्तक मैं उठा लाया और माँ के कमरे के दरवाजे के पास उसे गोद में लेकर पढ़ने बैठ गया सामने अन्तःपुर के आँगन को घेरे चौकोन बरामदा था। उस बरामदे में मेघाच्छन्न आकाश से तीसरे पहर की मलिन रोशनी आ रही थी। रामायण के किसी एक करुण प्रसग ने मेरी आँखों से आँसुओं की धारा प्रवाहित कर दी थी। मुझे यों रोता देखकर दीदी-माँ मेरे हाथों से वह पुस्तक जबरदस्ती छीन ले गयीं।

अनु० : २० चैत्र १८८३ श०

मूरख

क्या हुआ जो मैं न हुआ
अम्बिका गुसांई ?
पण्डितजी तो मुझको बनना
ही नहीं है, माई !
राजा-बेटा यदि न हुआ
खेलता फिरा हूडू-डुआ
ढूंढ़ता फिरा शहतूतों पर
यदि रेशम के कोये ही,
तो मूरख बनना पड़ेगा ?
लेकिन मेरा क्या बिगड़ेगा ?
मूरख जो हैं, चौबिस घंटे
मौज मनाते हैं वही !

मूरख जो हैं, चरवाहे हैं,
डंगर-ढोर चराते हैं !
नदी-किनारे, जंगल-जंगल,
सारा समय बिताते हैं !
मूरख जो हैं, पाल तानकर
नाव चलाते लहर-लहर पर,
नदी-पार की झीलों झीलों
काटा करते झाऊ।

या, चिड़ियाँ ऊँचे मचान से
हुशकाते हैं बड़ी शान से;
या, दही की बँहगी ले,
बनते घर-घर के ताऊ!

लिये हाथ में हँसिया-खुरपी,
सिर के ऊपर टोकरा
साँझ पड़े घर लौटा करता है
किसान का छोकरा!
देख-देख जो होता छटपट!
दुपहर को लगती अपनी रट,
हम पाटी लिखने में रहते,
गुरुजी बैठे ऊँघते,—
मूर्ख बनूँगा, ठनता जी में;
क्योंकि गीत गाते परती में
जाते गाड़ीवान, धूप की तपी
हवा को सूँघते।

चील ठुनकती आसमान में
सारी सारी दुपहरी,
हवा बजाती बँसवाड़ी में
सँपियारों की बाँसरी।
गोदी में पूरब का जंगल
लहराता बादल का आँचल,
डाल-डाल पर सिरस-फूल के
उठते रहते ज्वार से!

ये सब पाठ भुलाने वाले,

कहें : स्कूल से छुट्टी पा ले !
ये तो पंडित नहीं, अरी माँ,
ये तो निपट गँवार-से !

ढेर पोथियाँ पढने वाले
पाते हैं सम्मान बहुत,
उनका सदा हुआ करता है,
घर-घर आदर-मान बहुत।

सँग-सँग फिरते चले-चाटी,
धूमधाम उनकी परिपाटी,
मैं तो आदर-मान न चाहूँ
चाहूँ तेरा प्यार-भर।
तू भी मुझे मानकर मूरख,
माँ, यदि अपनी गोद में न रख,
तो मैं भागा जा पहुँचूँगा,
माँ, मेघों के मेघ-नगर !
उतर वहीं से तुझे भिगो दूँगा
बनकर घनघोर झड़ी,
तेरे घाट पहुँचते ही मैं
करूँगा धमाचौकड़ी !
रात रहे, होते भिनसारा,
उतरूँगा करके अँधियारा,
अंधड़ में घुस आऊँगा घर में
दरवाजा ठेलकर;
तू कहेगी आँखें मलकर;
'बौराया क्या राजा इन्दर !'
मैं कहूँगा, "बौराया आया है
मूरख पूत घर !"

१० आश्विन १३२८ बं० अनु० : ६ फाल्गुन १८८२ श०

कविता-रचनारम्भ

उस समय मैं सात-आठ बरस से अधिक का नहीं था। मेरे एक भानजे श्रीयुक्त ज्योति प्रकाश मुझसे काफ़ी बड़े थे। उस समय वे अँगरेजी साहित्य में प्रवेश कर चुके थे। हैमलेट की स्वगत उक्ति बड़े उत्साह के साथ दुहराया करते थे। कह नहीं सकता कि क्यों उन्हें मुझ जैसे शिशु से कविता लिखवाने का शौक़ अचानक चर्रा उठा। एक दिन दोपहर को अपने कमरे में बुलवाया और बोले, "तुम्हें पद्य लिखना होगा।" और फिर हाथ के हाथ पयार छन्द के चौदह अक्षरों के योगायोग की नीति-पद्धति भी समझा दी।

तब तक मैंने पद्य नाम की चीज को सिर्फ़ छपी पुस्तकों में ही देखा था। न कहीं कोई काट-पीट, न कोई सोच-फ़िक्र का लक्षण, न ही कहीं मर्त्य-जनोचित किसी और दुर्बलता का कोई चिह्न! ऐसी अलौकिक वस्तु पद्य को भी कहीं खुद कोशिश करके लिखा जा सकता है! ऐसी सम्भावना की तो कल्पना करने का साहस भी नहीं होता था। एक दिन हमारे घर में चोर पकड़ा गया था। बहुत डरता-डरता और असीम कौतूहल के साथ मैं उसे देखने गया था। देखा तो वह बिलकुल ही सामान्य आदमी जैसा लगा। इसीलिए जब दरबान ने उसे पीटना शुरू किया तो मुझे बड़ी पीड़ा हुई। पद्य के मामले में भी मेरी ठीक वही दशा हुई। थोड़े-से शब्द जब अपने ही हाथों किये उलट-फेर के फलस्वरूप पयार छन्द में बँधकर पद्य हो उठे तो पद्य-रचना की महिमा सम्बन्धी मोह पल भर को भी टिक नहीं सका। अब देखता हूँ कि बेचारे पद्य पर भी मार पड़ती है, तो सहन नहीं

दुरूह शब्द मैंने कहां से जुटाया था। पर सारी कविता में उसी एक शब्द पर मेरा भरोसा सबसे अधिक था। कचहरी के कर्मचारी-क्षेत्र में तो इस शब्द से विशेष फल भी मिल चुका था। पर नवगोपाल बाबू इतने पर भी मात मानने को तैयार न थे। उलटे वे हँस पड़े। मेरा यह विश्वास हो गया कि नवगोपाल बाबू समझदार आदमी नहीं हैं। उन्हें फिर कभी कोई कविता नही सुनायी। उसके बाद से मेरी उम्र बहुत-बहुत बढ गयी है, पर ऐसा नहीं जान पड़ता कि समझदार-नासमझ परखने की प्रणाली में कोई विशेष परिवर्तन हुआ हो! जो हो, नवगोपाल बाबू हँसे तो सही, मगर 'द्विरेफ' शब्द मधु-पान-मत्त भ्रमर की ही तरह अपने स्थान पर अविचलित बना रहा।

अनु० : २० चैत्र १८८३ श०

राह-भूला

जा पहुँचा मैं कहाँ आज तो!—
बहुत दूर उस ओर!
जितना भी अनुमान कर भला,
उससे और आगे जा निकला,
चाहे जितना कहूँ, बात का
बचा रहेगा छोर।

दूर, बहुत ही दूर, दूर से और
बहुत ही दूर।
खेत, बेंतवन, बाँसों के वन
मिले राह में अनगिनत, गहन,—
छुटा बहुत पीछे ही मन्दिर,
पीछे तालिमपूर।

जाते जाते पार कर गया
सतकोसी सब गाँव।
जमींदार के से बखार थे,
गिनता कैसे, बेशुमार थे!
पता नहीं चौधरी कौन थे,
कौन पंच किस ठाँव।

कितनें ही मैदान लँघ गये,
एक एक से बड़े।
फिर जो जंगल मिला, घोर था,
उसका कही न ओर-छोर था,—
घुसनें का लो नाम, रोंगटे
हो जायेंगे खड़े।

जामुन-तले मिली ठग बुढ़िया,
बोली, 'खबर-दा-ऽ-र !'
मेरी सूझ समय पर दौड़ी,
बोला, "ले छँ गंडे कौड़ी,"
उधर गिनें वह और इधर मैं
यह-ले वह-ले पार!

ओर न छोर कहू जंगल का,
कही न कोर-किनारा!
चलते चलते हाल था खस्ता,
बढ़ता ही जाता था रस्ता;—
पहन मुखौटा काला, हौआ
बन आया अँधियारा!

झुक-झुक ताके मानो कोई
फुनगी चढ़ा खजूर की।
बौने बौने लोग कहाँ के
उझक-उझक कर ताकें-झाँकें
खीसों को निपोर मुसकायें
हर झाड़ी से दूर की।

मुझको आँखें मारे, मानो,

बूढ़ा ठूँठ घड़ी-घड़ी।
लंबी लंबी टाँगें झूलें
डालों से; अनजाने छू लें
मेरी पीठ, कौन वे ?—रह-रह
लग-लग जाती सुड़सुड़ी।

दिखता नहीं कि फुसफुस बोले
कौन, दबी-सी साँस में।
दुर्-दुर् करता अँधियारी में
कौन भगाता किसको धीमे ?—
देह चाट जाता कोई
औचक ही आकर पास में।

राह अछोर, सोच है मन में:
लौटूंगा अब मैं क्योंकर !
आगे वह छाया ही है या
है कुछ ?—बोला, 'गीदड़ भैया,
कोई मुझको राह बता दो,
जाना है मैया के घर।'

कहता तो कुछ नहीं, हिलाता
जाता है वह चुप-चुप सर।
इतने में औचक आ धमके
बाधा मामू, गरजे-बमके,
पता नहीं वह गाज गिरी
किस बेचारे की जान पर !
तुझे पता है माँ, तुझ तक फिर
लाया मुझको कौन जतन ?

मेरे सिवा भला किसे पता ?—
क्यों, दूं तेरे कान में बता ?—
सपना मेरा तोड़ गया था
बाघा मामूं का गर्जन !

१५ आश्विन १३२८ बं०　　　　अनु० : फाल्गुन ८२ श०

अब्दुल माझी की गप्प

दिन चढ़ता है। धूप कड़ी पड़ती है। ड्योढ़ी का गजर बज उठता है। पर पालकी के भीतर का दिन घण्टों का हिसाब नहीं मानता। वहाँ का बारह बजाना पुराने जमाने जैसा होता है। पुराने जमाने में बारह तभी बजता था, जब राजमहल के सिंह-द्वार पर सभा-विसर्जन का डंका बजता था। राजा चन्दन के जल में स्नान करने को जाते थे। छुट्टी के दिन की दोपहरी को जिन नौकरों की ताबेदारी में मैं था, वे खा-पीकर खर्राटे भर रहे थे। अकेला बैठा था। मेरे मन में अचल पालकी चल रही थी। हवाई कहार मेरे मन के नमक पर पले थे। राह भी मेरे अपने ही खयालों की दुनिया में तय हुई थी। उस राह पर पालकी दूर-दूर गयी, देश-देश फिरी। उन देशों को किताबी नाम मैंने ही दिये थे। राह कभी घने वनों से होकर आगे जाती। बाघ की आँखें लपालप बल उठतीं। रोंगटे खड़े हो जाते। साथ में विश्वनाथ शिकारी होता। बन्दूक छूटती, धाँय-धाँय! बस, फिर चारों ओर सन्नाटा छा जाता। फिर कभी पालकी आप ही आप भेस बदलकर मोरपंखी नाव बन जाती। समुद्र में बह चलती। कहीं सूखी धरती दिखाई नहीं पड़ती। चप्पू के उठने-पड़ने से पानी छपाछप-छपाछप बोलता रहता। ज्वार फूल-फूल उठते, डोल-डोल उठते। मल्लाह बोल उठते, "सँभालो, सँभालो, तूफ़ान आ गया!" पतवार के पास अबदुल माझी होता। नुकीली दाढ़ी, मूँछें सफाचट, सिर घुटा हुआ। उसे खूब जानता हूँ। भैया के लिए वह पद्मा नदी से हिलसा मछली और कछुए के अंडे लाया करता है।

वह मुझे गप्पें सुना रहा था। चैत उतरते समय एक दिन मछली पकड़ने गया था। यकायक अंधड़ आया। नाव ऊब-डूब करने लगी। अब अब्दुल ने दाँतों से रस्सी पकड़ ली और पानी में कूद पड़ा। तैरता हुआ दियारे के ठहरे पानी में आ गया और नाव का रस्सा पकड़कर ऊपर खींच ले गया।

मुझे यह बात पसंद नहीं आयी कि गप इतनी जल्दी से समाप्त हो गयी। नाव डूबी नहीं, और बच भी गयी इतने सीधे ढंग से,—यह भी कोई गप्प हुई ?! मैं बार-बार पूछने लगा, "फिर ?"

वह बोला, "फिर तो वह महाकाण्ड हुआ कि कुछ न पूछो ! देखता क्या हूँ कि एक लकड़बग्घा वहाँ पहले से ही मौजूद है। यह बड़ी-बड़ी मूँछें। अंधड़ के समय वह उस पार गंज के घाट वाले पाकड़ पर चढ़ गया था। अंधड़ के किसी अचानक झक्कड़ ने उस पाकड़ को उखाड़कर पद्मा में गिरा दिया। बाघ भैया पानी के बहाव की तोड़ में पड़ गये। मजबूरी की उबकियाँ-डुबकियाँ खाते हाँफते हुए दियारे में आ रहे। बाघ पर नजर पड़नी थी कि मैंने गुन की रस्सी में फंदा लगा लिया। जानवर इत्ती बड़ी-बड़ी आँखें फाड़े मुझे घूर रहा था। तैरते-तैरते उसे भूख लग आयी थी। मुझे देखते ही उसकी लाल-टहाटह जीभ से लार टपकने लगी। बाहर-भीतर कितने ही 'मानुषों' से उसकी पहचान हो चुकी थी, पर अब्दुल से अब तक पाला नहीं पड़ा था। मैंने पुकारा, आ जाओ बच्चू ! ज्यों ही उसने अगली टाँगें उठायीं, त्यों ही मैंने उसके गले में फंदा डाल दिया। गला छुड़ाने को वह जितना ही छटपटाता, उतना ही फंदा कसता जाता और उसकी जीभ कुछ और बाहर निकल पड़ती।"

इतना सुनकर ही मैं अधीर हो उठा। पूछा, "अब्दुल, वह मर गया क्या ?"

अब्दुल बोला, "उसके बाप की मजाल थी जो इत्नी आसानी से मर जाता ? नदी में बाढ़ आयी थी और बहादुरगंज पहुँचना था। गुन में जोत कर उस बाघ-बेटे से कम-से-कम बीस कोस तक तो

उजानी नाव खिंचवायी ही ! रास्ते भर वह गों-गों करता रहा। पर मैं भी रह-रह कर उसके पेट में लग्गे से खोंच मारता रहा। दस-पंदरह घंटे की राह उसने डेढ़ घंटे में तय करा दी। उसके बाद की बात मत पूछना बाबा ! —मैं जवाब नहीं दे सकूंगा।"

मैं बोला, "अच्छा ठीक ! बाघ की बात तो हुई, अब घड़ियाल की सुनाओ !"

अबदुल बोला, "पानी के ऊपर उसकी नाक की नोंक तो न जाने कितनी बार उभरती देखी है। जिस समय वह नदी के ढालू करारे पर यहाँ से वहाँ तक लम्बा पड़ा हुआ धूप सेंक रहा होता है, उस समय ऐसा लगता है मानो बड़ी ही घिनौनी हँसी हँस रहा हो। बन्दूक होती तो मुक़ाबला किया जाता। लेकिन लैसंस ही चुक गया है। मगर बड़ा मजा आया उस दिन। कँची बंजारिन किनारे की रेती पर बैठी दाव से बाँस के फट्ठे सजा रही थी। उसका पठरू पास में ही बँधा था। न जाने कब घड़ियाल नदी से निकला और पठरू की टाँग पकड़के पानी में घसीट ले गया। बंजारिन ने आव देखा न ताव, झट से छलांग मारी और घड़ियाल की पीठ पर चढ़ बैठी। फट्ठा छीलने का दाव तो उसके हाथ में था ही, वह इस दानव-गिरगिट की गरदन के ऊपर चोटों पर चोटें करने लगी। जानवर ने पठरू को छोड़कर पानी में डुबकी लगा दी।"

मैं अधीर हो उठा। बोला, "उसके बाद ?"

अबदुल बोला, "उसके बाद की खबर पानी के तले डुबकी लगा गयी है। वहाँ से निकाल लाने में काफ़ी देर लगेगी। अगली बार मिलने आऊँगा तो खुफ़िया लगाकर ठीक-ठीक खबर का पता लगवाता आऊँगा।"

लेकिन फिर वह कभी आया नहीं। शायद पता लगाने गया हो।

अनु : २२ चैत्र १८८३ शा०

राजा और रानी

एक बड़ा था राजा।
उसने सज़ा मुझे दी ?--जा, जा !
उठकर उस दिन तड़के
भागा मैं, मारे हड़बड़ के।
देखूं, यह था मन में,
कैसे 'परभू' नाचे वन में।
ज्योंही मैं चढ़ा दाड़िम पर।
मेरी सारी उछल-कूद
तोड़के ले आना अमरूद,
रथ-मेले में जाना,
अथवा चिवड़ा-गुझिया खाना,—
सब की हुई मनाही।
किसका यह हुकुम था शाही ?

एक बड़ी थी रानी,
मैं बस उसका भरता पानी !
सुनकर सज़ा, मनाही,
मुझको टक बांधे देखा ही,
चूं भर बोल न बोली
केवल मुंह नीचे कर हो ली'
चुप-चुप घर के भीतर,

राजा और रानी

एक बड़ा था राजा।
उसने सजा मुझे दी ? - जा, जा!
उठकर उस दिन तड़के
भागा मैं, मारे हड़बड़ के।
देखूँ, यह था मन में,
कैसे 'परभू' नाचे वन में।
ज्योंही मैं चढ़ा दाड़िम पर।
मेरी सारी उछल-कूद
तोड़के ले आना अमरूद,
रथ-मेले में जाना,
अथवा चिवड़ा-गुझिया खाना,—
सब की हुई मनाही।
किसका यह हुकुम था शाही ?

एक बड़ी थी रानी,
मैं बस उसका भरता पानी !
सुनकर सजा, मनाही,
मुझको टक बांधे देखा ही,
चूँ भर बोल न बोली
केवल मुँह नीचे कर हो ली'
चुप-चुप घर के भीतर,

घास में होता विटामिन

घास में होता विटामिन
गायें, भेड़ें, घोड़े;
घास खाकर जीते, उनके
बावर्ची हैं थोड़े !

कहते हैं अनुकूल बाबू :
"आदत गलत लगा दी !
कुछ दिन खाओ घास, पेट खुद
हो जायेगा आदी;—
व्यर्थ नाज की खेती, कोई
खेत न जोते-गोड़े !"

घरनी गुहराती रह जाती,
वह निकल पड़ते हैं चरने,
ठुकराकर चल देते, जब वह
पैरों को लगती है धरने;—
मानव-हित का जोश, भला वह
अपना हठ क्यों छोड़ें !

दो दिन भी न हुए थे, जब वह
छोड़ गये यह लोक ही,
वेधे है विज्ञान-हृदय को
अभी यह महाशोक ही :
जीते तो प्रमाण के पथ में
बचते कहीं न रोड़े !

अनु : १० चैत्र १८८३ श०

बिरछा बाबा

ऊधो : क्यों रे, कुछ पता लगा ?

गोबरा : अरे भई, तुम्हारी बात पर आज महीने भर से वन-वन मारा-मारा फिर रहा हूँ। चक्कर काटते-काटते हाड़ तक माटी हो गयी, पर उसकी चुटिया भी दिखाई नहीं पड़ी।

पाँचू : किसका पता लगा रहा है भई ?

गोबरा : बिरछा बाबा का।

पाँचू : बिरछा बाबा ? यह कौन बाबा है रे ?

ऊधो : तू नही जानता ? सारी दुनिया उसे जानती है।

पाँचू : अच्छा ? बिरछा बाबा का यह मामला है क्या भला ?

ऊधो : बाबा जिस पेड़ पर चढ़ बैठता है, वही कल्पवृक्ष हो उठता है। उसके तले खड़े होकर हाथ फैलाते ही मुंह-माँगी मुराद मिल जाती है।

पाँचू : यह सब तुझे किसने बताया ?

ऊधो : गूदड़ गांव के भेकू सरदार ने। बाबा उस दिन गूलर के पेड़ पर बैठा पैर हिला रहा था। भेकू को इसकी खबर न था। वह उसी पेड़ तले से होकर कही जा रहा था। उसके सिर पर हाँड़ी में शीरा भरा था। भेकू हुक्के का तम्बाकू बनाने के लिए शीरा लिये जा रहा था। बाबा के पैर की ठोकर से हाँड़ी उलट कर

ढुलक पड़ो। शोरे से उसके मुंह, नाक, आंख आदि सभी अंग मुंद गये। बाबा दया के सागर हैं। बोले, 'भेकू, खुलकर बता कि तेरे मन की कामना क्या है!' भेकू बुद्धू का बुद्धू ही निकला। बोला: 'बाबा, एक लत्ता दे दो, मुंह पोंछ डालूं।' इतना कहना था कि पेड़ से एक अँगोछा टपक पड़ा। मुंह-आंख पोंछकर भेकू ऊपर देखता है तो वहां कहीं कोई नहीं। बात यह है कि बाबा से कोई एक ही कामना की जा सकती है। बस, एक कामना कर लेने के बाद रोते-रोते आसमान भी फाड़ डालो तो भी कोई सुनवाई नहीं होगी।

पांचू : हाय रे हाय, न शाल न दुशाला, मांगा भी तो बस एक अँगोछा ही! हां, भेकू को और सूझ-बूझ ही कितनी हो सकती थी!

ऊधो : सो हुआ करे, बला से! उस अँगोछे से ही उसका काम फर्राटे से चल रहा है। देखा नहीं? रथ-मेले के पास उसने आठ छप्परों वाला कितना बड़ा बँगला बनवाया है! अँगोछा ही सही, पर ऐसा-वैसा अँगोछा नही, बाबा का अँगोछा है!

पांचू : सो सब कैसे हुआ? कोई इन्द्रजाल तो नही?

ऊधो : होंदलपाड़ा के मेले में भेकू बाबा का अँगोछा बिछाकर बैठ गया। हजारों हज़ार लोग आ जुटे। बाबा के नाम पर रुपये, चवन्नियां, आलू, मूली आदि चढावे चारों ओर से उस अँगोछे पर बरसने लगे। औरतें आतीं और चिरौरी करने लगती कि ओ भेकू भैया, मेरे छोरे के सिर में बाबा का अँगोछा छुआ देना ज़रा, बेचारा तीन महीने से बुखार में पड़ा है। अँगोछा छुआने का नेम यह है कि सवा रुपया तो

चढ़ावा लगता है और साथ में पाँच सुपारियाँ, पाँच पायली चावल और पाँच छटाक घी भी देना पड़ता है।

पाँचू : चढ़ावे तो चढ रहे हैं, पर फल भी कुछ मिलता है या यों ही ?

ऊधो : मिलता क्यों नहीं ? गाजन पाल ने लगातार पन्द्रह दिन तक अँगोछे में भर-भर कर धान दिया और फिर उसकी खूँट में रस्सी बाँधकर एक खस्सी भी हवाले किया। खस्सी की मिमियाहट सुनकर कितने ही लोग आ जुटे। क्या कहूँ भाई, ग्यारह महीने के बाद ही गाजन को नौकरी मिल गयी। हमारे राजा के महल-कोतवाल की विजया घोटता है और उसकी दाढ़ी सहला देता है।

पाँचू : सच ?

ऊधो : सच नही तो क्या ? गाजन मेरे ममेरे भाई का छोटा साढ़ू ठहरा।

पाँचू : अच्छा भाई ऊधो, अँगोछे को तूने देखा है ?

ऊधो : देखा क्यों नहीं है ? हट्टूगंज की खड्डी का डेढ़गजी टुकड़ा। चंपई जमीन, लाल किनारी।,हूबहू वही चीज।

पाँचू : क्या कहता है तू ? खैर, पेड़ के ऊपर से कैसे गिरा ?

ऊधो : यही तो मजे की बात है ! सब बाबा की दया !

पाँचू : चल भाई, चल। बाबा को ढूँढ़ा जाय। पर चीन्हेंगे कैसे ?

ऊधो : यही तो मुश्किल है। देखा तो उन्हें किसी ने भी नहीं। एक को मौका भी मिला तो लो, भेकू बेटे की आँखें ही शीरे से मुँद गयीं।

पाँचू : फिर उपाय क्या है ?

ऊधो : मुझे तो हाट-बाट में कहीं कोई मिला नहीं कि हाथ जोड़कर पूछ बैठता हूँ, "कृपा करके यह बताइये कि बिरछा बाबा आप ही तो नहीं हैं?" सुनते ही लोग मारने को दौड़ पड़ते हैं। एक ने तो मेरे सिर पर हुक़्क़े का पानी ढाल दिया।

गोबरा : ढालें। पर हम भी पिंड नहीं छोड़ने के। ढूँढ़ के ही मानेंगे। कौन जाने कपाल में क्या बदा हो!

पाँचू : भेकू कहता है कि पेड़ पर चढ़ने पर ही बाबा को पहचाना जा सकता है। जब पेड़ से नीचे होते हैं, तब तो उन्हें चीन्हना मुहाल है।

ऊधो : पेड़ों पर चढ़-चढ़कर कहाँ तक चीन्हते फिरेंगे। मैंने एक रास्ता निकाला है। मेरे पेड़ पर आमड़ा लदबद फला है। जिसे देखता हूँ, उसी को कहता हूँ कि बाबा, आमड़ा तोड़कर लिये जाओ। पेड़ लगभग सूना हो चला। डाल भी खूब टूटी हैं।

पाँचू : अब देर करना ठीक नहीं। चलो चलें। नसीब का जोर होगा तो दर्शन होंगे ही। एक बार फेफड़े का पूरा ज़ोर लगाकर पुकारना भाई! बिरछा बाबा, हे बाबा, दयालु बाबा, पाटली के वन में कहीं छिपे हो तो एक बार हम अभागों को दर्शन तो दो।

गोबरा : अरे, दया हो गयी रे! हो गयी शायद!

पाँचू : कहाँ रे, कहाँ?

गोबरा : वह देख, हर्फ़-रेवड़ी के पेड़ पर!

पाँचू : क्या रे? क्या है हर्फ़रेवड़ी पर? मुझे तो कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता!

गोबरा : वह देख ना, वह क्या झूल रहा है!

पाँचू : क्या झूल रहा है? वह तो पूँछ है रे!

ऊधो : तुम्हारी अक़्ल को क्या हुआ, गोबरा! वह बाबा की

नही, हनुमान की दुम है रे। देखता नही, मुँह विचका रहा है !

गोबर : घोर कलियुग है, यह क्यों भूलते हो? बाबा ने ही हमें भुलावा देने के लिए बंदर का रूप धारण किया है।

पाँचू : भुलावा नही दे सकते बाबा ! काला मुँह दखाकर हमें भुलावा नहीं दे सकते तुम ! जी भर विचका लो मुंह, हम तो टलने के नही ! अब तो तुम्हारी इस श्री-पूंछ की शरण हैं !

गोबरा : अरे-रे-रे, बाबा तो लम्बी छलाँग लगाकर भागने लगे !

पाँचू : भाग के जायेंगे कहाँ ? हमारी भक्ति की दौड़ से पार कैसे पा सकेंगे ?

गोबरा : वह बैठे, कंथ की फुनगी पर।

ऊधो : पांचू, चढ़ जा ना कंथ पर !

पाँचू : अरे तू ही चढ़ ना !

ऊधो : अरे तू चढ़।

पाँचू : इतने ऊँचे पर हम नही चढ़ सकते बाबा, कृपा करके उतर आओ !

ऊधो : बाबा, यही असीस दो कि तुम्हारी उस श्री-पूंछ को गले में लपेटकर अंत-घड़ी आँखें मूँदूं !

अरे कमबुद्धियो, हँसी आयी तुम्हें ?

नहीं। जो आदमी बिना सोचे-समझे हर बात पर विश्वास कर ले, उसे हँसाना इतना आसान नहीं है।

डर यह है कि कहीं पूपू दीदी मुझे ही विरछा बाबा की खोज में रवाना न कर दे। उसकी मुद्रा देखकर लगता तो कुछ ऐसा ही है। उसका मन एक'न एक चीज से बुरी तरह उलझा रहता है। इस बार विरछा बाबा से उलझा है। अच्छा, कल आजमाऊँगा कि विश्वास

किये बिना भी उसे मजा आता है कि नहीं।

कुछ ही देर बाद पूपू आकर बोली, "अच्छा दादाजी, तुम्हारी भेंट हो जाती तो तुम विरछा बाबा से क्या माँगते ?"

मैं बोला, "पूपू दीदी के लिए ऐसा कलम माँगता, जिससे लिखने पर अंकगणित के हिसाब में कभी भूल न हो।

पूपू दीदी तालियाँ बजाकर बोल उठी, "आ-हा, तब तो मज़ा आ जाता !"

इस बार अंकगणित में पूपू को सौ में साढ़े तेरह नंबर मिले हैं।

अनु० : २३ चैत्र १८८३ श०

दीदी

नदी-कछार, मजूर पछाँही, लौंदे माटी काटकर
ईंट-पजावा लगवाता है। उसकी छोटी-सी बिटिया
करती रहती आवाजाही दौड़-दौड़कर घाट पर,
लिये हाथ में कितनी मँजी-घिसी थलिया, बटिया, लुटिया।
दिन में सौ-सौ वार दौड़ती आती। पीतल के कंगन
पीतल की थलिया से लग-लग बजते रहते हैं ठन्-ठन्!
दिन-भर बड़ी जुटी रहती है। छोटा भाई नंग-धड़ंग,
घुटा हुआ सिर, कीचड़ में लिपटे-लिथड़े-से सारे अंग,
किसी पालतू पंछी-सा पीछे-पीछे आया करता।
दीदी के कहने से ऊँचे तट पर सुस्ताया करता
बैठा-बैठा स्थिर धीरज से। माथे लेकर भरा घड़ा,
बाईं काँख तले दाबी थलिया, दायें कर से पकड़ा
शिशु भाई का हाथ, बालिका लौट चली। सादी-सीधी
जननी की प्रतिनिधि यह, कर्म-भार-नत अति छोटी दीदी।

२ अप्रैल १८९६ अनु० १३ आश्विन १८७९ श०

सार्थक जन्म हुआ

सार्थक जन्म हुआ, इसी देश में जन्मा।
सार्थक जन्म, तुझे प्यार करें तन-मन, माँ!
तेरे रत्न हैं कैसे,
पता न, रानी जैसे!
केवल यह पता कि तेरी छाँह में जुड़ा जाता तन, माँ!
पता न, किस चमन के गुल
करते हैं यों गंधाकुल,
ऐसे हँस-हँस के उगे चाँद कहाँ के गगन, माँ!
आँख खुली पहले पहल
तेरी जोत से शीतल,
उसी जोत में अंतिम बार मूँदूँगा नयन, माँ!

अनु० १८ फाल्गुन १८८२ श०

मन्त्री ने यह जुगत निकाली
"आज रात, सरकार,
मिट्टी का नक़ली बूंदी गढ़
कर लें हम तैयार।
राणा अपने हाथों ध्वस्त करें,
प्रण-पालन का बन्दोबस्त करें;
व्यर्थ न अपना जीवन अस्त करें,
अपनें शब्दों का मत बनें शिकार!'
मंत्री ने चित्तौड़ में किया
नक़ली गढ़ तैयार।

कुम्भा था राणा का नौकर
हाड़ा-वंशी वीर,
वह शिकार से लौट रहा था
लिये धनुष औ' तीर।
खबर सुनी, बोला, "किसकी है अरे, मजाल,
नक़ली बूंदी गढ़ को जो कर दे पामाल?
हाडा-वंशी राजपूत मैं बनकर ढाल
रोकूंगा शमशीर।
नक़ली बूंदी गढ पर मिट जाऊँगा, मैं तो
हाड़ा-वंशी वीर।

मिट्टी का गढ ढाने आये
राणा बडे सवेर।
'दूर रहो' कह कुम्भा गरजा,
मानो गरजा शेर।
"बूंदी नाम की यह अवहेला
मैं न सहूँगा यदपि अकेला,

नक़ली गढ़—मिट्टी का ढेला—
हो न सकेगा ज़ेर।
दूर रहो !" कह कुम्भा गरजा
मानो गरजा शेर।

दायाँ घुटना टिका भूमि पर,
साधे तीर-कमान,
डटा अकेला कुम्भा, रखने
को बूँदी की शान।
राणा की सेना ने घेरा,
पर कुम्भा ने पृष्ठ न फेरा—
गढ़ के सिंहद्वार ने हेरा,
कुम्भा का बलिदान,
धन्य हुआ उसके लोहू से
बूँदी गढ़ का मान।

■ कार्तिक १३०६ बं०　　　　अनु० : २४ फाल्गुन १९८२ वि०

छोटी-सी हमारी नदी

छोटी सी हमारी नदी टेढ़ी-मेढ़ी धार,
गर्मियों में घुटने भर भिगो कर जाते पार।
पार जाते ढोर डंगर, बैलगाड़ी चालू,
ऊँचे हैं किनारे इसके, पाट इसका ढालू।

पेटे में झकाझक बालू कीचड़ का न नाम,
काँस फूले एक पार उजले, जैसे घाम।
दिन-भर किचपिच-किचपिच करती मैना डार-डार,
रातों को हुआँ-हुआँ कर उठते सियार।

अमराई दूजे किनारे और ताड़-वन,
छाँहों-छाँहों बाम्हन-टोला बसा है सघन।
कच्चे-बच्चे धार-कछारों पर उछल नहा लें,
गमछों गमछों पानी भर-भर अंग-अंग पर ढालें।

कभी-कभी वे साँझ-सकारे निबटा कर नहाना
छोटी-छोटी मछली मारें आँचल का कर छाना।
बहुएँ लोटे-थाल माँजती रगड़-रगड़ कर रेती,
कपड़े धोती, घर के कामों के लिए चल देतीं।

जैसे ही आषाढ़ बरसता, भर नदिया उतराती,
मतवाली सी छूटी चलती तेज धार दन्नाती।

वेग और कलकल के मारे उठता है कोलाहल,
गँदले जल में घिरनी-भँवरी भँवराती है चंचल।
दोनों पारों के वन-वन में मच जाता है रोला,
वर्षा के उत्सव में सारा जग उठता है टोला।

अनु० : १६ फाल्गुन १८८२ श०

लक्ष्मी की परीक्षा

पहला दृश्य

क्षीरो

सुख से धरम-करम करते धनवान्,
निर्धन की रहती साँसत में जान।
तुम रानी हो, धन है ठेलमठेल,—
दान-ध्यान-व्रत के करती हो खेल।
हुक्म चलाना क्या है, मुँह की बात!—
खटना होता मुझको ही दिन-रात।
पर तुमको मिलता यश, पुण्य-प्रताप;—
मेरे बाँटे शून्य; ताप-संताप!

नेपथ्य में

क्षीरो, क्षीरो!

क्षीरो

चिल्लाती क्यों आप?
मेरा सुस्ताना भी कोई पाप?

(रानी कल्याणी का प्रवेश)

कल्याणी

तेवर चढ़े हुए क्यों हैं, हा राम!

क्षीरो

पिंड न छुटता; काम, काम, बस काम!
कितना मरे-खपे आखिर इनसान?
कितना सहूँ, एक तो मेरी जान!
दिन पर दिन यह देह हो चली नष्ट?

कल्याणी

क्यों क्यों, तुमको भला कौन-सा कष्ट?

क्षीरो

दुनिया भर की जितनी रामी-श्यामी,
सबकी करनी पड़ती मुझे गुलामी।
बाँभन हो या तेली-काछी-पासी,
क्षीरो ही है नगरी-भर की दासी!
कहाँ किसी के घर में चूल्हा-चक्की?
सबकी दावत यहीं क़ायमी, पक्की!
बरतन माँज-माँज कर निकली हड्डी;
पान-चिलम की आठों पहर कबड्डी!
जान अकेली, इतनी ख़टनी-मरनी;
दया नहीं तुमको?

कल्याणी

सब तेरी करनी।
तेरी जीभ कतरनी से भी खरतर,
कैसे टिकें यहाँ पर नौकर-चाकर?
नौकर के आते ही मार भगाती,
नौकर के जाते ही हाय मचाती!
इसका कौन इलाज भला है, कह तो?
है क्या कोई?

क्षीरो

सच कहती हो यह तो !
मुझको सहन नहीं होता है, हाय;
प्राण बिलखते देख-देख अन्याय !
जुटते दुनिया भर के डाकू-चोर,
धन ले जाते दोनों हाथ बटोर !
भगा न दूं तो कल ही मचे फ़साद,
तुम्हें भगा दें मेरे वध के बाद !

कल्याणी

चोर माधवी, डाकू सुयुगा माधू,
सब डाकू हैं, केवल तू ही साधू !

क्षीरो

मैं साधू ! मैयां री ऐसी मिथ्या
बात कभी मुंह पर भी लायी मैं क्या ?
खाती हूँ भर पेट, मूठ भर लेती,
आठों पहर असीसें तुमको देती।
लेकिन कितना अँटता मेरे पास,
दो हाथों की कितनी भला बिसात ?
जितने ही जन आयेंगे दरबार,
उतने हाथों की होगी भरमार।
बिधना ने क्या चीज व्यर्थ में ही दी ?
लेने को ही हाथ दिये हैं, दीदी !

कल्याणी

...जो हो, तुमसे पूछूं एक सवाल ?
पिछली साँझ, अतिथि-सेवा के काल,

कितनों को मिल सका न मधुर-पुलाव
चांदपूड़ियों का क्यों हुआ अभाव ?
—न ही परोसा गया रसकरा-पाक ?

क्षीरो

दीदी-ठकुरानी, मत करो मज़ाक़ !
मैंने गिन-गिनकर अपने हाथों से
हर पत्तल में दो-दो पाक परोसे।
यों न कहो—

कल्याणी

ये आँखें हैं नीरोग;
इनने देखा, पा न सके सब लोग;
खाली पत्तल—

क्षीरो

मैया री, सच ? हाँ,
भला बिलाती है हर चीज़ कहाँ ?
इतना खाती ! मुझको भी हैरानी !
—भोला हलवाई की है शैतानी !

कल्याणी

सब के लिए कटोरा दूध सबील,
आध कटोरा भी देने में ढील ?

क्षीरो

ग्वाला कहीं युधिष्ठिर होता है ?
सारा विष टेढ़ी नजरों का है !
सब मुझ करम-जली के बाँटे है;

इसी पीठ पर झाड़ू-काँटे हैं!
हाय दैव—

कल्याणी

अब बस भी कर दो ना,
झूठमूठ का यह रोना-धोना!

क्षीरो

सचमुच का रोना जिनको आता;
लो, वह आया उनका ही ताँता!

(पड़ोसिनों का प्रवेश)

पड़ोसिनें

जय जय रानी, चिरविजयी तुम हो!
कल्याणी, कल्याणमयी तुम हो।

क्षीरो

रानी-दीदी, सुन लो जय के स्वर!
कुछ भी कम होता यदि पत्तल पर,
तो क्या इतना गले फाड़ कर प्राण
उछल-उछल करते जय का आह्वान?
चाँदपूड़ियाँ देना यदि दो-चार
दैवयोग से मैं देती न बिसार,
तो क्या उन्हें पचाने को निरुपाय
मुए बाप गुहराये जाते हाय?

×× ×× ××

विनी! किनी! काशी! दिखलाना तो झाँकी!

काशी

क्यों दीदो ;

बिनी

क्या है मौसी ?

किनी

क्या है काकी ?

क्षीरो

आओ, कुछ खा-पी लो।

बिनी

बिलकुल भूख नहीं।

क्षीरो

जब सुविधा हो, खा लेते है, नीति यही।

किनी

खा-खाकर रसकरे पेट है तना-तना।

क्षीरो

और न तो दो-चार सहो, क्या खूब बना !
भोला हलवाई की चांदपूड़ियां है;
उस ढक्कन के तले पड़ी हैं, बढ़िया हैं;
इन्हें डाल मुंह में, दो दूध-कटोरे पी,
फिर सो जाना भले, लगा मुंह में ठेपी।

काशी

सारे दिन कोई कितना खाये, जीजो ?

झीरो

भोजन भूख-अधीन नहीं हैं काशीजी !
लाखों भुक्खड़ फिरते है मारे-मारे,
क्यों न अन्न उनके मुँह में आ जाता रे ?
दुखियों, कँगलों और उठाईगीरों को,
खेतिहरों, मोटियों, अनाथ फक़ीरों को,
कभी भूख की कमी हुई हो, नामुमकिन !
चन्द्रपूड़ियाँ उन्हें नसीब नहीं लेकिन !
गाँठ बाँध ले किस पदार्थ की क्या दर है !
खाने से बढ़ कही भूख का आदर है ?
क्यों री विनी, तुम्हारी चाँदी की कंघी
जूड़े से ग़ायब क्यों ? चीज बड़ी महँगी !

बिनी

उस टोले की लड़की ने बरजोरी की;
माँग ले गयी, रो-धो दाँत-निपोरी की !

झीरो

हाय, तुझे भी सत्यानासी हवा लगी :
करम जला, दानी बनने की साध जगी !

बिनी

मौसी, कुछ भी नही-न बेचारी के पास !

झीरो

और तुम्हारे पास कौन क़ारूँ की रास ?
निर्धन जन के लिए दया-माया है रोग,
इसका लग जाना समझो भारी दुर्योग ।

ना ना, तुम ददिहाल चली जाओ, धीरे,
नाड़ी हवा यहाँ की सह न सकेगी रे !
रानी जितना भी दें, चुक न सकेगा घन,
दानी बनने में न उन्हें कोई अड़चन !
तुमने जो दे दिया, उसी का हुआ अभाव,
इससे भी न उपजता मन में कातर-भाव ?
बुद्धू लड़की, मैं तो तुझे यहाँ लायी
यही आस लेकर मन में कि बहन-जाई
साथ रहेगी तो लेगी मुझसे शिक्षा·
कैसे-कैसे ढंग से जुटती है भिक्षा !
किसे पता था : देर पेट के भरने की,
तू तो उलटी सीख पढ़ेगी मरने की !
दूध कटोरे की पेंदी में इतना है !
तले गले के गया नहीं क्या ?—कितना है ?
मेरे मरने पर मनोग सब भर लेना,
दान-ध्यान-उपवास सभी कुछ कर लेना;
जब तक मैं जीती हूँ, तब तक खुशी-खुशी
हरगिज करने दे न सकूँगी खुदकुशी ।
खाना-पीना अगर हो लिया तो जाओ,
रात बहुत हो चली, तुम सभी सो जाओ ।

(किनी, विनी और काशी का प्रस्थान ।
कल्याणी का प्रवेश ।)

दीदी, मैं जीवित तो हूँ, चलती है साँस ?

कल्याणी

मुझे नहीं इसका तिल भर भी है विश्वास ।
फिर भी, कह तो सही, तुझे कहना क्या है ?

क्षीरो

दीदी, हाय, क़सम से, मरण न ठट्ठा है !
मामा की चिट्ठी आयी है; दो ही पद :
"काकी तो इस बार न बच पाये शायद;
दवा कहाँ से हो, कौड़ी तक पास नहीं,
और महाजन हमें डालते घास नहीं !"

कल्याणी

काकी का तो श्राद्ध किया था पिछले साल !
माँग ले गयी थी कितनी धन-दौलत, माल !

क्षीरो

हाँ हाँ, ठीक; मरी वह खूसट तो, रानी,
मगर मरी काकी तो क्या ? है जेठानी !
धन्य धन्य रानी-दी, कैसी पैनी याद :
भूल न पायी हो इतने दिन के भी बाद !
ऐसी चौकस बुद्धि, सदा आँखें खोले !
तुमसे नज़र बचाकर कुछ भी घट तो ले !
धोखा देकर जीती रह जाये काकी !
ऐसी क्या मजाल है उसके बाबा की !
लेकिन ध्यान रहे यह, मेरी जेठानी
कभी एक भी बार न मर पायी, रानी !

कल्याणी

मरी नहीं लेकिन वह जन्मी भी न कभी।

(हँसती हुई कल्याणी का प्रस्थान)

क्षीरो

राम कहो रे मनुआ, किसी दूसरे से
माल ऐंठना सुख ही सुख नहीं सिरे से;
दुख भी काफ़ी है इसमें। हे माँ कमले,
तेरा वाहन उल्लू कभी यहाँ दम ले!
इतने पास-पास से आता-जाता है,
पर न भूल कर इधर कभी रुक पाता है।
राह भटक कर कभी इधर आ जाये वह,
और पीठ पर तुझे बिठाये लाये वह,
तो उसको अच्छत-सिंदूर से पूजूँ हे,
और नाश्ता करवाऊँ अस्सी चूहे।
छक कर खायें बच्चू, मेरे बिना कहे
अघा-अफर कर मेरे ही घर पड़े रहें!
फिर तो डैने मढ़वा दूँगी सोने से,
देखूँगी कैसे उड़ते इस कोने से!

(लक्ष्मी का आविर्भाव)

रात गये तू कौन सताने आयी है?
देश छोड़ भग जाऊँ कहाँ? दुहाई है?
सहूँ कहाँ तक?

लक्ष्मी

तो क्या बदा पलायन ही?
दूर सफ़र है!

क्षीरो

रुक जा, देखूँ तो सही!
सिर पर क्या पहने है, दिपता है चेहरा,—

लगता है जैसे हो हीरे का सेहरा !
सोने का बक्सा है ? इसमें क्या सब है ?
देख सकूँगी ? अच्छा, अच्छा, अभी रहे !
इतना हीरा, इतना सोना ! क्या कहने !
नामुमकिन ! ये गिलट के नहीं तो गहने ?
जड़े हुए नग असली रतन-जवाहर हैं ?
इत्र कौन सा ? सारे अंग मुअत्तर हैं !
मँह-मँह से लगता ज्यों हों पुरइन-वन में !
क्या-क्या शक-सन्देह नहीं उठते मन में !
बैठ न बिटिया, रात गये जाते कहीं ?
मुझको ठगने का मनसूबा तो नहीं ?
सुन लो, वैसा कोई अगर इरादा हो,
पछताओगी, भले आज़मा लो, चाहो।
नाम भला क्या है, बतलाना सही-सही;
मेरे सिर की क़सम, बोलना झूठ नहीं।

लक्ष्मी

एक नाम हो तो बतला दूँ, नाम अनेक।

हीरो

हाँ हाँ, छलके धंधे में क्या नाम-विवेक ?
होंगे नक़ली, जाली, फ़रज़ी नाम बहुत !
हुआ न पकड़े जाने का अवसर प्रस्तुत ?

लक्ष्मी

हुए, मगर कुछ दिन बन्दी रहने के बाद
बन्धन काट हुआ करती हूँ फिर आज़ाद !

क्षीरो

सीधी बात करो, छोड़ो भी मसखरी।
वरना ठीक न होगा, कह दूं बात खरी।
नाम बता दो सभी छल-कपट छोड़कर।

लक्ष्मी

लक्ष्मी।

क्षीरो

मुखड़ा भी लक्ष्मी-सा ही सुन्दर!
ढेरों हैं लक्ष्मियां, चीन्हना असफल कष्ट,
लक्ष्मी तो हो, मगर कहां की? कह दो स्पष्ट।

लक्ष्मी

असली लक्ष्मी मगर नहीं है एकाधिक
तीन लोक में।

क्षीरो

ठीक-ठीक। हा, मुझको धिक,
तुम तो मेरी मां हो! क्यों न कहो ऐसे?
कभी न देखा, भला चीन्ह पाती कैसे?
चरण-कमल चीन्हे होते तो यह पगली
होती क्यों कर जग में ऐसी करम-जली?
आओ, बैठो, घर को कर दो उजियावल!
मेरा उल्लू भैया तो है कुशल-कुशल?
आ ही गयी अगर तो, बड़े भाग मेरे,
सहज यहां से उठा न सकती हो डेरे।
ठहरो, चरण-पुजापा अभी-अभी लायी,
सहज न मेरे हाथ आज माता आयी!

कौशिकेश्वरी, करुणा-दृष्टि सयानों पर
क्यों न हुआ करती, मुझको है खूब खबर।
बुद्धि रहे पर प्रजा नहीं मरती भूखी,
दया न हो तो आफत है बस बुद्धू की !

लक्ष्मी

पेट ठगी से, कपट-कर्म से भरती हो,
क्यों अधर्म से तनिक नहीं तुम डरती हो ?

×× ×× ××

तुम्हें मिली कल्याणी जैसी मालकिन,
तुम डाकू, उसको भी ठगती हो लेकिन !

क्षीरो

हाय, बदी थी आखिर यही करम-खोरी :
चोर कहे वह, जिसके लिए करूँ चोरी !
तुम्हें प्यार करती हूँ इसीलिए तो री,
मुझको करनी पड़ती ठगी, कपट, चोरी !
भाग्य-दोष ! अब नहीं ठगूँगी, सुख सोना,
पर तुम भी न मुझे ठगकर चम्पत होना।

लक्ष्मी

कितना रूखा है स्वभाव, वर्तन, तेरा ?

क्षीरो

इसका कारण है, दुखिया है मन मेरा।

×× ×× ××

बाँदी हूँ, बाँदी की रीति-नीति जानी;
राज-प्रकृति पाऊँगी, हो तो लूँ रानी !
उनकी भी यदि मुझ जैसी दुरवस्था हो,
यश उनके भी लिए न इतना सस्ता हो !

फिर औरों पर रह पायेंगी यह न सदय,
सारी दया करेंगी अपने ऊपर व्यय।
बातों में रहती जो मिसरी की मिठास,
कड़ुवाहट कर देगी उसका सत्यानास।
फिर तो कौड़ी तक न हाथ से गिसकेगी,
दाँत हथेली में घुसेड़कर चिपकेगी।
भीख माँगने के, पैरों पड़ने के गुर
रोज़ नये अपनाने को होंगी आतुर।

लक्ष्मी

एवमस्तु, रानी बना दिया तुझे! सभी
भूल जायेंगे तू दासी भी रही कभी!
लेकिन सावधान, यह रहे सदा ही ध्यान :
होने पाये कभी नहीं मेरा अपमान!

दूसरा दृश्य

(रानी के रूप में क्षीरो और उसका पारिषद-वर्ग)

क्षीरो

बिनी !

बिनी

कहो मौसी।

क्षीरो

'मौसी' क्या री छोरी ?
तुझ-सी बुद्धू दुनिया में न कहीं हो री !
कँगले, भिखमंगे, तेली, माली, देही,—
मौसी को केवल 'मौसी' कहते ये ही !
रानी मौसी तुझे मिली, यह भाग्य उदार,
अदब नही जानती ? मालती !

मालती

जी सरकार।

क्षीरो

मौसी रानी हो तो उसका संबोधन ,
क्या होता,—कर दे इस बुद्धू का बोधन।

मालती

छी छी, केवल मौसी कहते रानी को ?
रानी-मौसी कहना भी तो अब सीखो !

क्षीरो

ध्यान रहेगा तो ?—काशी जा छिपी किधर ?

काशी

क्यों रानी-दीदी ?

क्षीरो

बाँदियाँ और नौकर
कहाँ तुम्हारे ?

काशी

भला रात-दिन बेमतलब
पीछे-पीछे लगे रहें क्यों सब के सब ?

क्षीरो

अरी मालती !

मालती

आज्ञा ?

क्षीरो

छोरी को सिखला :
हैं इतनी दासियाँ मिली किसलिए भला !

मालती

मछुओं या ताँतियों का नहीं यह परिवार !

तुम सब होती हो रानी की नातेदार!
मेरे जो नवाब थे, उनके महल पली!
बेगम की लड़की एक थी नेवली
उसके छोटे-से छौने पर भी दिन-रात
चार-चार बाँदियाँ रहा करती तैनात;
और सिपाही अलग!

क्षीरो

सुना काशी ने तो?

काशी

सुना।

क्षीरो

दासियाँ बुलवा लो; अब भी चेतो।
किनी मुँहजली!

किनी

रानी काकी, क्यों गाली?

क्षीरो

चुटकी क्यों न बजी, मैंने जम्हाइयाँ लीं?
मालो!

मालती

आज्ञा?

क्षीरो

सिखला देना क़ायदा?

मालती

इतना कहा-सुना, पर जरा न फ़ायदा ?
बेगम छींकें तो फिर किसकी हिम्मत थी,
चुटकी नहीं बजाये ? आती शामत थी !
झट शूली पर चढ़ा, नाक में तीली डाल
छिका-छिका मारा जाता उसको तत्काल !

×× ×× ××

क्षीरो

बिनी !

बिनी

कहो रानी-मौसी !

क्षीरो

चूड़ियाँ कही
भरी कलाई से चोरी तो गयीं नहीं ?

बिनी

चोरी तो न गयीं।

क्षीरो

फिर कहीं गिरीं, खोयी ?

बिनी

खोयीं नहीं।

क्षीरो

उचक ले गयी ठगिन कोई ?

बिनी

ना रानी-मौसी।

क्षीरो

तो पंख निकल आये ?
चीज़ किसी की अगर नही चोरी जाये,
खोये नही कहीं, ठग भी उसको न ठगे,
किसी तरह वह नहीं किसी के हाथ लगे;
तो रहती है मालिक के ही पास ! बता,
और कहाँ होगी ? मुझको तो नही पता !

बिनी

दान कर दिया उन्हें।

क्षीरो

इसी का तो मतलब :
किसी ठगिन का सधा तुझी पर है करतब !
कह तो किसको मिलीं ?

बिनी

मल्लिका दासी को।
रानी-मौसी, बड़ी तरस आयी जी को।
सात-सात बच्चे हैं, घर में अन्न न धन !
×× ×× ××

क्षीरो

मालो !

मालती

आज्ञा ?

क्षीरो

यह लड़की बिलकुल नादान;

ऊँच-नीच का इसको ज़रा करा दे ज्ञान।

मालती

रानी के जो सगे, सभी रानी के अंश।
नीचों से रहते हैं अलग बड़ों के वंश।
बढ़ता है जब दान-बान का यह चक्कर,
कँगलों से घुलने-मिलने का रहता डर।
लिखा रखा असलोक पुराने शासतर में:
'नीच ग़रीबों-सा कोई न जगत् भर में!'

क्षीरो

मालो!

मालती

आज्ञा?

क्षीरो

अब न मल्लिका को रखना।

मालती

मार भगाती अभी तोड़ घुटना-टखना।
अगर बढ़ी कच्चे-बच्चों में चर्चा भी
दान-दया की, बढ़ जायेगा खर्चा भी।

क्षीरो

मार भगाते समय कहीं अनमनी न रह,
हो न जाय चूड़ियाँ लिये नौ-दो-ग्यारह!
छः दासियाँ अभी जाकर देखें बाहर,
कौन बजाता जाता शहनाई पथपर।

(तारिणी का प्रस्थान और पुनः-प्रवेश)

तारिणी

मधूदत्त पोते का व्याह आज की रात
करने को जा रहा धूम से ले बारात।

शीरो

रानी के घर के आगे में शहनाई
बजवाने का नियम कहाँ का है भाई ?
शहनाई का स्वर यदि कानों को डँसे !
या सिर में हो दर्द उठा संयोग से ?
या रानी की कच्ची नींद उचट जाये,
खीज उठें वह, गुस्से में कुछ घट जाये !
मालो !

मालती

आज्ञा ?

शीरो

घटता ऐसा कांड कहीं
तो नवाब साहब क्या करते, बता सही ?

मालती

गिरफ़तार करके मँगवाया जाता वर,
दो शहनाई वाले उसके कानों पर
दो-दो शहनाइयाँ बजाते जुड़वाँ-सी
तीन दिनों तक; फिर उसको होती फाँसी !

शीरो

बुलवा लो, हो जहाँ कहीं डंडा-सरदार;
वह जाये, सँग लेकर दस जूते-बरदार;—

पड़े सटासट, ज़ोर-ज़ोर से पीठों पर
फ़ी-बाराती दस-दस चाबुक गिन-गिन कर !

×× ×× ××

(दासी का प्रवेश)

दासी

रानी-माँ, दरवाज़े पर कोई खड़ी;
लगती किसी बड़े घर की है, सुघड़ बड़ी !

क्षीरो

आयी है हाथी पर चढ़कर या रथ पर ?

दासी

लगता है पैदल ही आयी है पथ पर।

क्षीरो

फिर क्या रहा बड़प्पन या 'बड़े घर की'-पन ?

दासी

रानी-जैसा मुखड़ा है ! यह सत्त वचन !

क्षीरो

मुखड़े पर तो लिखा न होता, कौन बड़ा ?
गाड़ी-घोड़ा ही पहचान, नहीं मुखड़ा !

(मालती का प्रवेश)

मालती

रानीजी से मिलने की खातिर आकर
रानी कल्याणी हैं खड़ी हुई बाहर।

सीरो

पैदल ही आयी है ?

मालती

सुनती हूँ यही !

सीरो

फिर तो बड़ा घुटाला ! कुछ सूझे नहीं ! !
कैसे उन्हें बराबर में बिठलाया जाय ?
नीचे आसन देना भी होगा अन्याय !
विषम समस्या है, कोई क्या करे भला ?
है कोई जो सुलझा दे यह मामला ?

एक दासी

रानीजी की गद्दी रख दें बीचोंबीच;
उनका आसन दूर; न कोई ऊँच न नीच !

दूसरी दासी

अथवा घुमा लिया जाये यह सिंहासन;
पीठ फेर कर रानीजी देवें दर्शन !

तीसरी दासी

या कहलाया जाये: "आज लौट जायें,
रानीजी अच्छी हो लें तो फिर आयें ?"

सीरो

मालो !

मालती

आज्ञा !

क्षीरो

इसका कोई करो उपाय !

मालती

क्यों न खड़ी ही खड़ी भेंट निबटा ली जाय ?
उलझी सुलझाने की एक यही है शक्ल !

क्षीरो

कहाँ छिपाये रखती है यह सारी अक़्ल ?
यही ठीक ! पर पहले बाँधे पाँतियाँ
और खड़ी हो जायँ सवा सौ बाँदियाँ !
यह भी ठीक नहीं है;—पहले लगे क़तार
पाँच-पाँच की; पाँतें थोड़ी और सुधार;
तुम सब जरा खिसक आओ; ना ना, यह ठीक,
पाँतें आगे में ही रहें, जरा नजदीक;
ना ना, यों तो ढँक जायेगा मुँह मेरा;
तिरछी पाँतें हों, कोनाकानी घेरा !
अच्छा तो फिर, हाथ पकड़कर इसी तरह
खड़ी रहो थोड़ी-थोड़ी दूरी पर रह !
शशी, तुझे बनना है छतरी-धारिणी,
हाथों में ले चँवर डुलाये तारिणी !
मालो !

मालती

आज्ञा ?

क्षीरो

देख न, हम सब हैं तैयार ?
अब वह लायी जा सकती मेरे दरबार।

(मालती का प्रस्थान)

क्षीरो

और कहाँ जाओ? एकांत यही खरा;
तुम हो, मैं हूँ, और न कोई तीसरा!

×× ×× ××

कल्याणी

अपनी बात यही कहनी होगी, निरुपाय!
है पठान जो बादशाह, उसने अन्याय
करके छीन लिया है मेरा सारा राज।

क्षीरो

क्या कहती हो? फूलपुरी क्या रही न आज?
गिरिधरपुर भी गया? गया गोपाल नगर?
गया कन्हाईगंज?

कल्याणी

सब गये! रहा सिफ़र!

क्षीरो

नगद बचा है कुछ न? निशानी राजा की?

कल्याणी

सब ले गये पठान! रहा अब क्या बाक़ी?

क्षीरो

इतने दुख भी तुम्हें वदे थे हा, सहने!
अच्छा हीरे-मोती के जो थे गहने,
बड़े-बड़े नीलम के दानों की माला,
कानों के कुंडल, कुंडली गढन-वाला

किनी, विनी, काशी, स्थिर रहना तुम सभी;—
खबरदार, हिलना-डुलना भी नहीं कभी!
मेरे दोनो ओर बना लेना दो दल;
पास-पास रहना।

(कल्याणी और मालती का प्रवेश)

कल्याणी

सब ठीक, कुशल-मंगल?

क्षीरो

मेरी कोशिश रहती यही कि रहे कुशल,
और दूसरों की कोशिश कि करें कुछ छल;
इसी तरह से चलता है यह जग-जंगल,
हर दम अपने साथ परायों का दंगल!

कल्याणी

कहो विनी, सब कुशल?

बिनी

कुशल की तो अति, मा!
पर मलीन क्यों है यह सोने की प्रतिमा?

क्षीरो

विनी, व्यर्थ में मत लगवाना गोल-योग;
गया नहीं अब तक तेरा बक-बक का रोग?

कल्याणी

रानीजी यदि बुरा नहीं मानें मन में,
तो करनी है थोड़ी बातें गोपन में।

क्षीरो

और कहाँ जाओ? एकांत यहीं खरा;
तुम हो, मैं हूँ, और न कोई तीसरा!

× ×　　　× ×　　　× ×

कल्याणी

अपनी बात यहीं कहनी होगी, निरुपाय!
है पठान जो बादशाह, उसने अन्याय
करके छीन लिया है मेरा सारा राज।

क्षीरो

क्या कहती हो? फूलपुरी क्या रही न आज?
गिरिधरपुर भी गया? गया गोपाल नगर?
गया कन्हाईगंज?

कल्याणी

सब गये! रहा सिफ़र!

क्षीरो

नगद बचा है कुछ न? निशानी राजा की?

कल्याणी

सब ले गये पठान! रहा अब क्या बाक़ी?

क्षीरो

इतने दुख भी तुम्हें बदे थे हा, सहने!
अच्छा हीरे-मोती के जो थे गहने,
बड़े-बड़े नीलम के दानों की माला,
कानों के कुंडल, कुंडली गढ़न-वाला

पुखराजों की पाँच लड़ों का लंबा हार,
एक लाख का हीरों-जड़ा सीथ-सिंगार;
सब-कुछ लूट-पाट कर क्या ले गये पठान ?

कल्याणी

सब ले गये, न छोड़ा तिनके का सामान !

क्षीरो

अहा, इसीसे कहा कि धन, जन, तेजस्, मान,
पुरइन के पातों पर पानी-बूँद-समान !
सोने-चाँदी के दामी पैतृक सामान
जो थे, उनका भी न बचा क्या नाम-निशान ?
और उन दिनों के वे महफ़िल के जौहर;
बल्लम, असा, गलीचे, मसनद, छत्र, चँवर,
चँदवे, चँदने और क़नातें; कुछ न रहा ?
ग़लत नहीं, अपने शास्त्रों ने ठीक कहा :
'धन बिजली की कौंध-सरीखा होता है !'
फिर अब वास कहाँ रानी का होता है ?
बचा हुआ है महल ?

कल्याणी

पठानों के दल-बल
कर बैठे है मेरा सारा महल दखल।

क्षीरो

मैया री, यह मानो परी-कहानी है !
बनी भिखारिन, जो कल तक की रानी है !
शास्त्र इसीसे कहते : यह-सब माया है;
धन, जन, तेजस्, मान, ताड़ की छाया है !
है न बात मालती ?

मालती

सही है ! सत्त बचन !
बहुत बाढ़ हो लेने पर अनिवार्य पतन !

कल्याणी

कुछ दिन को मिल जाय यहीं पर यदि आश्रय,
तो फिर से उद्धार करूँगी मैं निश्चय।
अपना सारा राज-पाट, जो-कुछ हो जाय !
इसके सिवा नहीं दिखता है और उपाय।

क्षीरो

कल्याणी, तुम रहा करोगी मेरे संग !
कितनी अच्छी बात, बहुत ही सुखद प्रसंग !
×× ×× ××
पर छोटी-सी एक बात सुन रखो बहन;
इसमें क्या शक, है विशाल यह राज-भवन,
लेकिन रहनेवाले भी न यहाँ कम है;
किसी तरह से ठँसे-ठँसे रहते हम है।
जगह तुम्हारे लिए बनाना नामुमकिन;
यही बड़ी चिंता, प्रसंग यहा महा-कठिन !
लेकिन अगर महल को छोड़-छाड़ करके
कुछ दिन रह लें तंबू आदि गाड़ करके।

कल्याणी

रहने दो रानीजी, यह झंझट बेकार !
अब आज्ञा दो, बाकी बातें अगली बार।

क्षीरो

जाओगी ही ?—चारा भी क्या और है ?
यहाँ तो नहीं तिल धरने को ठौर है !

लोग-बाग, असबाब, माल, लावा-लशकर
इतना ठेलमठेल, ठसाठस घर-बाहर;
कहाँ किसी को कहें कि आओ, बैठो जी !
अच्छी बात ! जगह तुमने कोई खोजी,
जहाँ छिपाओ बचे-खुचे गहने-जेवर ?
अगर नहीं तो सुनो, तुम्हारा ही यह घर,
जो कुछ चाहो, रखकर हो लो बे-परवाह !

कल्याणी

कुछ भी नहीं बचा; बच पाये केवल, आह,
हाथों के दो जूड़े, पाँवों के पायल !

क्षीरो

फिर तो आज विदा लो, अब दिन आया ढल,
अच्छी नहीं तबीयत, लगती थकी-थकी;
सिर दुखता है, सुबह-सुबह जो बक-बक की।
मालो !

मालती

आज्ञा ?

क्षीरो

क्या न कन्हाई जानता,
स्नान के समय शहनाई बजती ? बता !

मालती

कर दूंगी उस जाहिल का समुचित शासन !

क्षीरो

अच्छा, अब रखवा दो मेरा रत्नासन;

उठे आज दरबार, हो लिया खासा काम।
मालो !

मालती

आज्ञा ?

क्षीरो

नाम कमाने का परिणाम
देख लिया ना ?

मालती

हँस-हँसकर मैं हुई निढाल !
पंचतंत्र की चुहिया का-सा इनका हाल !

क्षीरो

मुझे देख बिटिया, मैं नाम कमाने से,
जहाँ-तहाँ पैसे बोने-छितराने से,
ऐरू-गैरू पंचायतें जुटाने से,
तड़क-भड़क से, लोगों को चौंकाने से,
किसी तरह का कोई ढोंग रचाने से
दूर-दूर ही रहती बड़े ठिकाने से !

मालो !

मालती

आज्ञा ?

क्षीरो

कल्याणी के तो गहने
दुनिया में अनुपम थे, उनके क्या कहने !
लेकिन आखिर बचे रहे दो चूड़े भर;
हँसी न जीने देगी यह-सब देखकर !

लेकिन फिर भी सिर झुकने का नाम न ले;
भीख माँगने में भी कैसे चोंचले!
भीख माँगने निकली पगली गली-गली,
फिर भी रानी-गिरी न भूल सके पिछली!
विपदा में पड़कर जगत् पिघल उठता है;—
इसकी ऐंठ देखकर जी जल उठता है!
फिर सुन पड़ता है यह कैसा कोलाहल ?

मालती

दरवाज़े पर आया भिखमंगों का दल।
पड़ा कराल अकाल, अनाजों के बोरे
इतने मँहगे, गाहक फिर जाते कोरे।
इसीलिए ये कान खा रहे है; डंडे
अगर पड़ें तो हो जायेंगे सब ठंढे!

क्षीरो

रानी कल्याणी जानी-मानी दानी;
यहाँ हाथ फैलाने के फिर क्या मानी ?
इन्हें पकड़के पाँड़ेजी लाठी-बरदार
दानी रानी कल्याणीजी के दरबार
पहुँचा आये और करे ऐसा ऐलान;
'पहले इस दानी के घर ही माँगो दान;
जो-कुछ यहाँ मिलेगा, उसका पाँच-गुना
मेरी रानी भी देगी बे-चुनीं-चुनाँ!'

×× ×× ××

(दासी का प्रवेश)

दासी

एक बाँभनी आयी है दरवाजे पर,
मार भगाऊँ उसे, हुकुम हो जाय अगर।

क्षीरो

ना-ना, यहीं बुला ले-ना! ना जाने क्यों
मेरा मन उछला-सा पड़ता है बाँसों।

(ब्राह्मणी का प्रवेश)

ब्राह्मणी

हाज़िर हुई कि बड़ी विपद है आ पड़ी।

क्षीरो

सो तो जानी हुई बात। टेढ़ी घड़ी
पड़े बिना मेरा मुखचन्द्र निहारने
आतीं ही तुम काहे को झख मारने!

ब्राह्मणी

सरबस चोरी गया, बच रहा सिर्फ़ गला।

क्षीरो

तो क्या मुझसे ही लोगी उसका बदला?

ब्राह्मणी

दया अगर हो जाये, मिल जाये कुछ दान,
तो भुखमरी न लेने पाये मेरी जान।

क्षीरो

किसी और के हाथों सरबस लुट गया,
उसके बदले मुझसे चाह रही दया;

लेकिन अब तुम जो लूटोगी मेरा घर,
उसके बदले दया कहाँ होगी मुझ पर !!

ब्राह्मणी

धन-सुख से जो सुखी, भरा जिसका भंडार,
बढ़े दान-सुख से उसका सुख अपरम्पार!
पाता है जो दान, वही होता नतमुख,
दुख के ऊपर से पाता भिक्षा का दुख।
तुम समर्थ, मैं निस्सहाय, बेबस, लाचार;
सहज भगा सकती हो मुझको लातें मार;
यदि न तुम्हारी इच्छा हो तो करो न दान,
पर क्यों करती हो अपमानित का अपमान ?
अच्छा चली; दया कर इतना दो बता :
साध पुजेगी जिस घर, उसका क्या पता ?

क्षीरो

सुना नहीं है रानी कल्याणी का नाम ?
जग में इतना नहीं किसी दानी का नाम !
आँख मूँदकर सीधे जाओ उसके घर,
भीख मिलेगी तुमको झोली-झोली भर।
राह बताने को हाजिर मेरे नौकर,
पहुँचा देंगे ठीक उसी दरवाजे पर।

ब्राह्मणी

एवमस्तु ! अच्छा तो चली उसी के द्वार।
अच्छी तरह जानती हूँ उसका दरबार।
मैं लक्ष्मी हूँ, व्यर्थ तुम्हारे घर आकर
मुझे लौटना पड़ा निरादर ही पाकर।

कहे जा रही एक वात, बिसराना मत :
मन को बढ़ा नहीं पाती है धन-दौलत !
जग में पड़े एक से एक धनी-मानी,
बिरले ही होते है रानी कल्याणी !

क्षीरो

जाओ, यदि जाना है मुझे त्यागकर आज;
मगर कोरनिश कर जाओ, तोड़ो न रिवाज!
मालो ! मालो ! कहाँ जा मरी तारिणी !
कहाँ जा मरी मेरी चामर-धारिणी ?
कहाँ जा मरी सवा-सया सौ दासियाँ !
बिनी, किनी, काशी ! आओ भी, हो कहाँ?

(कल्याणी का प्रवेश)

कल्याणी

पागल तो न हुई है ? अभी बहुत है रात !
तुझे हुआ क्या है ? छी छी, यह कैसी बात ! !
देख भला, तूने यह कैसा कांड किया !
चिल्ला-चिल्ला नगर-मुहल्ला जगा दिया !

क्षीरो

है माँ ! वही कहूँ मैं भी;—छी, कैसी बात !
कैसे-कैसे सपने देखे सारी रात !
बड़े बुरे थे; लगा किसी ने फाँसी दी !
सपना टूट गया अब, जान बची दीदी !
रुकना जरा कि चरणधूलि ले लूँ तेरी,
तू रानी, मैं जनम-जनम तेरी चेरी !

२६ अग्रहायण १३०४ बं०　　　　अनु० : ६ चैत्र १८८३ श०

क्षुद्र का दम्भ

सिर उठाकर पोखरे से कह रहा सिवार,
"लिख रखो, यह एक बूंद ओस दी उधार!"

सगा-पन

मिट्टी के दीये से बोली मिट्टी-तेल भरी ढिबरी,
"मुझको बहन कहा तो; गला टीप दूंगी, मैं कहूं खरी!"
इतने हो में चांद निकल आया, मुसकाया आसमान;
मिट्टी-तेल की ढिबरी बोली, "आओ मेरे भाई जान!"

भक्ति किसकी

रथ-यात्रा का मेला, भीड़ खचाखच, बेहद धूमधाम।
रथ के पथ पर लोट-लोट कर भक्त कर रहे दण्ड-प्रणाम।
पथ सोचे, "मैं ईश्वर!" रथ सोचे "मैं ईश्वर पथ-गामी!"
मूर्त्ति सोचती, "मैं ईश्वर!" हँसते रहते अन्तर्यामी!

मध्यम की सतर्कता

उत्तम तो निश्चिन्त भाव से चलें अधम के संग;
मध्यम वे, जिनका हो अलग-अलग चलना ही ढंग।

मोह

नदी का 'यह-पार' कहता भर-भर कर उसांस,
"सारे सुख 'उस पार' हैं, मेरा पक्का विश्वास!"
नदी का 'वह पार' रह-रहकर भरता है आहें,
"दुनिया के सारे सुख 'उसी पार' क्यों जमा हैं!"

विषम विपत्ति

पाँच दिन मिला न भात,
दूध रत्ती भर नहीं—
ज्वर गया, मगर न गया
पथ्य बेखबर कहीं।
अब भी साबूदाना-पानी,
वही डाक्टर की मनमानी,
कच्चे बेर और अमड़े में
अब भी उष्ण है वही!

ले-देके आराम एक:
टली शाला की बला;
अंकों के वन में भटको, पर
राह मिलती है भला!
लेकिन मची मैच की धूम,
लड़के जुड़ते बे-मालूम,
अपनी तो छाती फटती है;
मजबूरी का मामला!

पंडित कीनूराम—गंजी
चाँद वाले—की तरह
चुन्नीलाल डाक्टर भी

लगता बड़ा भयावह !
भरकर दवा की सुई
हँसता है 'हुई-हुई,'
दो दाँतों से रीती दिखती
है बत्तीसी की सतह !

ज्वर-बाधा है, डाक्टर है,
भागने को गत नहीं—
प्राण छटपटाते, अपने
हाथ आते यत्न ही !
मास्टर हटते ही ज्वर के
फाँस को गाँठे कस करके !
मुझको तो मिटा डालेंगे
मिलकर ये दो रत्न ही !

अनु० : २८ फाल्गुन १८८२ श०

अग्नि काण्ड

"हलचल मची मुहल्ले भर में,
लेकिन मालिक सुनें न घर में !
जगिये, जल्दी जगिये !'
'घड़ी जगौनी तो गुमसुम है,
बजी कहाँ, रे उसकी दुम है ?'
'घड़ी बजेगी पीछे, घर में
आग लगी, सुगबगिये !'
'जगूँ - अगर बे-वक़्त
मुझे सर-दर्द उठेगा सख़्त।'
'खिड़की तो जल उठी, पाँव
सिर पर समेट कर भगिये !'
'बहुत सताता रे छकौड़िया !'
'घर तो जलकर राख हो गया !'
बची नींद अब फ़ुटपाथों पर,
पूरी करने लगिये !

अनु० : २० फाल्गुन १८८२ श०

छोटा बड़ा

अब भी मैं तो बड़ा नहीं हो पाया;
 लड़का हूँ, इससे छोटा हूँ; लेकिन,
भैया से भी बहुत बड़ा हो लूँगा,
 बापू जितना बड़ा बनूँगा जिस दिन।
फिर जो भैया पढ़ने में हों कच्चे,
पिंजरे में पोसें चिड़ियों के बच्चे,
तो मैं उनको वह-वह डाँट पिलाऊँ:
 'भैया, तुम कितने पाजी हो, नटखट!'
'ऊधम छोड़ो, पढ़ो-लिखो सीधे से!'
 बापू-जैसा होने तो दो झटपट!
तब मैं खुद भैया का पिंजरा लूँगा,
बहुत-बहुत अच्छी चिड़ियाँ पालूँगा।

साढ़े दस बजने पर भी न मचेगा
 झट से नहा डालने का हो-हल्ला।
छतरी काँधे डाल, पहन कर चप्पल,
 फिर आऊँगा सारा शहर-मुहल्ला।
हुक्म करूँगा गुरुजी के आने पर
'कुरसी डलवाना कमरे के भीतर';
अगर कहेंगे: "स्लेट कहाँ है, लाओ,
 पढ़ने बैठो, फ़िक्र नहीं है क्या कुछ!"

मैं कह दूंगा, "बच्चा अब थोड़े हूँ,
वापू-जैसा बड़ा हो गया सचमुच !"
सुनकर गुरुजी कह उठेंगे, "हाँ, अब
आज्ञा हो, घर जाऊँ बाबू साहब !"

साँझ पहर भूलू आयेगा, मुझको
खेल के लिए संग बुला ले जाने;
मैं धमकाकर फटकारूँगा, "भागो,
गुल न मचाओ, काम पड़े निबटाने।"
भले मचा हो रेला ठेलमठेला,
रथ-मेला जाऊँगा निडर अकेला;
मामा घबराये आयेंगे कहते :
"खो जाओगे, आ जाओ कंधें पर।"
मैं कह दूंगा, "देखो मामा, अब तो
वापू जैसा बड़ा हुआ, अब क्या डर ?"
मामा मुझे निहार कहेंगे : 'हाँ रे,
लल्ला अब वह लल्ला रहा कहाँ रे !'

पहले-पहल बड़ा होऊँगा जिस दिन,
गंगाजी से फिरती बेर नहाकर
माँ पिछवाड़े खड़ी-खड़ी सोचेगी :
'गुल न गपाड़ा, गुमसुम-सा क्यों है घर !'
ताले को खोलना सीख, दरमाहा
महरी को देता पाकर मनचाहा
माँ चकरा कर बोल उठेगी, "हा हा,
लल्ला, यह खिलवाड़ निकाला कैसा !"
समझाऊँगा, "दरमाहे का पैसा
दे दूं, अब तो मैं हूँ बापू-जैसा !"

चुक जायेगा पैसा, राशन-कपड़ा,
जो चाहो ला दूंगा भर-भर छकड़ा.

गाजन-तल्ला में जब होगा मेला,
पूजा की छुट्टियां जिन दिनों होंगी,
बाबूगंज घाट पर दूर कहीं से
आन लगेगी बापूजी की डोंगी।
बापू मन ही मन सोचेंगे भरसक,
लल्ला तो लल्ला ही होगा बेशक,
छोटे रंग-बिरंगे जूते-कपड़े
लाकर मुझको पहनाना चाहेंगे,
कह दूंगा : "मैं तुम-सा बड़ा हुआ हूं,
दे दो ये सब भैया ही पहनेंगे।
कैसी छोटी-छोटी इनकी माप ! —
कैसे पहनूं, देखते नहीं आप ?"

अनु० : १४ फाल्गुन १८८२ श०

मुकुट

पहला अङ्क

पहला दृश्य

(त्रिपुरा के सेनापति ईसाखाँ का कमरा।
त्रिपुरा के छोटे राजकुमार राजधर और ईसाखाँ।
ईसाखाँ हथियार साफ़ करने में लगे हैं।)

राजधर : देखो सेनापति, बार बार कह चुका हूँ, मेरा नाम धरके मुझे मत पुकारा करो।

ईसाखाँ : फिर क्या धरके पुकारूँ ? चोटी धरके या कान धरके ?

राजधर : कहे देता हूँ, मेरा सम्मान नहीं करोगे तो मैं भी तुम्हारा सम्मान नहीं करूँगा।

ईसाखाँ : मेरे सम्मान की रक्षा का भार तुम्हारे हाथों में होता तो मैं उसे कानी कौड़ी में बेच आता। अपने सम्मान की रक्षा मैं आप ही कर लूँगा।

राजधर : इसीलिए कहता हूँ कि अगर उसकी रक्षा करनी है तो मुझे नाम से मत पुकारो।

ईसाखाँ : अच्छा ?

राजधर : हाँ !

ईसाखाँ : हा-हा-हा-हा ! तो महाराजाधिराज का संबोधन क्या

करना होगा ? हुजूर, जनाब, जहाँपनाह ?

राजधर : मैं तुम्हारा शिष्य सही, पर यह क्यों भूलते हो कि मैं राजकुमार भी हूँ ?

ईसाखाँ : सहज नहीं भूल पाता। तुमने यह याद रखना कठिन बना डाला है कि तुम राजकुमार हो।

राजधर : लगता है कि तुम भी मुझे यह याद नहीं रखने दोगे कि तुम मेरे उस्ताद हो।

ईसाखाँ : बस करो ! खामोश !

(दूसरे राजकुमार इन्द्रकुमार का प्रवेश)

इन्द्रकुमार : खाँ साहब, मामला क्या है ?

ईसाखाँ : बड़े कौतुक की बात है बाबा। तुममें यह जो सबसे छोटा है, इसे 'जहाँपनाह शाहनशाह' न कहो तो इसका सम्मान ही नहीं रहता ! सम्मान की ऐसी तंगी है इसे !

इन्द्रकुमार : क्या कहते हैं ? सच ? हा-हा-हा-हा !

राजधर : चुप रहो भैया !

इन्द्रकुमार : तुम्हें क्या कहकर पुकारना होगा ? जहाँपनाह ? हा-हा-हाहा ! शाहनशाह ?

राजधर : भैया, कह रहा हूँ न चुप रहो तुम !

इन्द्रकुमार : जनाब, चुप रहना बड़ा कठिन है ! हँसते-हँसते पेट फटा जा रहा है हुजूर !

राजधर : तुम बिलकुल नादान हो।

इन्द्रकुमार : ठंडे हो लो भाई, जरा ठंडे तो हो लो ! तुम्हारा सयानापन तुम्हारे पास ही रहे। मुझे उसका कोई लोभ नहीं !

ईसाखाँ : इनका सयानापन फ़िलहाल बहुत ही बेतरह बढ़ गया है।

इन्द्रकुमार : पहुँच के बाहर हो गया है। नसेनी लगानी होगी।

(अनुचरों के साथ युवराज चन्द्रमाणिक्य और महाराज अमरमाणिक्य का प्रवेश)

राजधर : महाराज से मुझे कुछ नालिश करनी है।

महाराज : क्या हुआ है ?

रजधर : ईसाखाँ बार-बार मना करने पर भी मेरी मानहानि करते हैं। महाराज को इसका विचार करना होगा।

ईसाखाँ : मानहानि किसी ने नहीं की। अपनी मानहानि तुम आप कराते हो। और भी तो राजकुमार हैं ? वे भी यह नहीं भूलते कि मैं उनका गुरू हूँ और मैं भी नहीं भूलता कि वे मेरे शिष्य हैं। इसलिए मान-अपमान का कोई सवाल ही नही उठता।

महाराज : सेनापति जी, अब हमारे कुमार वयस्क हो गये हैं। अब उनकी मान-रक्षा तो हमें करनी ही होगी।

ईसाखाँ : जब महाराज ने मुझसे युद्धविद्या सीखी थी, उस समय मैंने महाराज का कैसा सम्मान किया था ? राजकुमारों का उससे कोई कम सम्मान तो मैंने कभी नही किया !

राजधर : और कुमारों की बात मैं नही करना चाहता, पर…

ईसाखाँ : चुप रहो वत्स। मैं तुम्हारे पिता से बात कर रहा हूँ। महाराज क्षमा करें, राजवंश का यह कनिष्ठ कुमार बड़ा होने पर मुंशी की तरह क़लम तो चला सकेगा, पर तलवार इसके हाथों में शोभा नही देगी।

(युवराज और इन्द्रकुमार को दिखाकर)

इन्हें देखें महाराज ! ये भी राज-पुत्र ही हैं। राज-महल को रौशन किये रहते हैं।

महाराज : राजधर, खाँ साहब क्या कह रहे हैं। अस्त्रविद्या में तुम इन्हें संतुष्ट नही कर सके ?

राजधर : वह तो मेरी अस्त्र-विद्या का नही, मेरे भाग्य का दोष

है। मेरी प्रार्थना है कि महाराज स्वयं ही हमारी धनुर्विद्या की परीक्षा लें।

महाराज : बहुत अच्छा ! उत्तम ! कल हमें अवकाश है। कल ही परीक्षा होगी। तुम में जो जीतेगा, उसे मेरी यह हीरों-जड़ी तलवार पुरस्कार में दी जायेगी।

द्वितीय दृश्य

(इन्द्रकुमार की अस्त्रशाला के द्वार पर)

इन्द्रकुमार : क्यों भई प्रताप, मामला क्या है ? अचानक अस्त्र-शाला के द्वार पर मेरी बुलाहट किसलिए हुई ?

प्रताप : मझली बहूरानी-माँ ने आपको यह खबर देने का आदेश दिया कि आपकी अस्त्रशाला में एक जीव-धारी अस्त्र घुस आये हैं। इसलिए इस बात की खोज-खबर लेना उचित होगा कि यह अस्त्र-महोदय वायु-अस्त्र हैं, नागपाश हैं या और कुछ है।

इन्द्रकुमार : क्या बहकी-बहकी बातें करते हो प्रताप ? कलियुग में भी ऐसा कुछ हुआ करता है क्या ?

प्रताप : जी कलियुग में ही होता है, सत्ययुग में नहीं। दरवाजा खोलकर देखिये, सारी बात आप ही आप समझ में आ जायगी।

इन्द्रकुमार : सचमुच, यह क्या ? किसी के पैरों की आहट जैसी आ रही है !

(दरवाजा खुलते ही राजधर निकलता है)

यह क्या ? राजधर तुम ? हा-हा-हा-हा, कोई तुम्हें भूल से अस्त्र समझ बैठा था ? हा-हा-हा-हा !

राजधर : मझली बहूरानी ने मखौल ही मखौल में मुझे यहाँ बन्द कर रखा था।

इन्द्रकुमार : यह घर तो सहज मखौल का घर नहीं है। यहाँ का

मखौल भयंकर धारदार मखौल होना है। यहाँ तुम्हारा आगमन कैसे हुआ भला ?

राजधर : आज रात को शिकार पर जाने का इरादा था। अस्त्र लेने गया तो देखा कि हमारे अस्त्रों पर जंग लग गया है। कल की परीक्षा के लिए उन्हें साफ कराने को दे आया हूँ। यहाँ बहूरानी से तुम्हारे कुछ अस्त्र उधार लेने आया था।

इन्द्रकुमार : सो उन्होंने शायद पूरी अस्त्रशाला ही तुम्हें उधार दे डाली है! हा-हा-हा-हा! तो फिर निकल क्यों आये ? जाओ, घुस पड़ो! उधार की मीयाद पूरी हो गई क्या ? हा-हा-हा-हा!

राजधर : हँस लो, हँस लो। इस तमाशे में मेरे हँसने की बारी भी आयेगी। पर अभी नही। चला भैया, अब आज शिकार पर नही जाऊँगा।

(प्रस्थान)

प्रताप : छोटे कुमार के साथ आप लोगों की यह ठिठोली मुझे अच्छी नहीं जान पड़ती।

इन्द्रकुमार : ठिठोली में डर काहे का ? वे भी ठिठोली कर ले ना।

प्रताप : उनकी ठिठोली इतनी सहज-सरल नहीं होगी।

तीसरा दृश्य

(परीक्षा भूमि में राजा, राजकुमारगण, ईसाखाँ, निशानधारी और भाट)

इन्द्रकुमार : भैया, तो तुम्हें जीतना ही होगा। वरना काम नही चलेगा।

युवराज : चलेगा नही तो क्या ? मेरे तीर के निशान चूक जाने पर भी दुनिया ज्यों की त्यों चलती रहेगी। और नहीं भी चलती तो मैं क्या कर सकता हूँ ? जीतने की

कोई सम्भावना तो दिखाई नहीं देती।

इन्द्रकुमार : भैया, तुम हारे तो मैं जान-बूझकर निशाना चूक जाऊँगा।

युवराज : ना भाई, ना ! ऐसा लड़कपना नहीं करते। उस्ताद का नाम रखना होगा।

ईसाख़ाँ : युवराज, समय हो गया है, धनुष उठाओ। प्रतियोगिता में मनोयोग दो। देखना, हाथ सधे रहें।

(युवराज का तीर चलाना)

च्च्-च्च्, चूक गया।

युवराज : मनोयोग तो किया था ख़ाँ साहब, तीर-योग कर ही नहीं सका।

इन्द्रकुमार : कभी नहीं ! तुम्हारा मन लगा होता तो मजाल था कि निशाना चूक जाय। भैया, तुम उदासीन होकर सब कुछ यों ही ठुकरा देते हो, इससे मेरे जी को बड़ा दुख होता है !

ईसाख़ाँ : जानते हो, तुम्हारे भैया की बुद्धि तीर की नोंक पर क्यों नहीं खट पाती ? बात यह है कि वह उतनी सूक्ष्म नहीं है !

इन्द्रकुमार : सेनापति जी, आपके वचन न्याय के बोल नहीं हैं।

ईसाख़ाँ : (राजधर से) कुमार, अब तुम लक्ष्य-भेद करो। महाराज देखें।

राजधर : पहले भैया की तीरन्दाजी तो हो ले।

ईसाख़ाँ : यह प्रश्नोत्तर का समय नहीं। मेरे आदेश का पालन करो।

(राजधर का तीर चलाना)

: जो हो, तुम्हारे तीर ने भी तुम्हारे भैया के तीर का ही अनुसरण किया है ! लक्ष्य की ओर लक्ष तक नहीं किया !

युवराज : भाई, तुम्हारा तीर बहुत ही पास से होकर निकला है। थोड़े ही और में तुमने लक्ष्य-भेद कर लिया होता।

राजधर : लक्ष्य-भेद तो हो चुका है। दूरी के कारण आप लोग साफ़-साफ़ देख नही पा रहे हैं। वह देखिये, है न ठीक निशाने पर ?

युवराज : ना भाई राजधर, ना ! तुम्हारी दृष्टि को भ्रम हुआ है। लक्ष्य बिंध नही पाया है।

राजधर : आप लोग देखकर भी देख नही पा रहे, इसका कारण यह है कि मेरी धनुर्विद्या पर आपका विश्वास ही नही है। खैर, पास पहुँचते ही प्रमाण मिल जायगा।

(इन्द्रकुमार का धनुप उठाना)

युवराज : (इन्द्रकुमार से) भाई, मै असमर्थ हूँ। इसलिए मुझ पर खिसियाना तुम्हारे लिए उचित नही है। तुम निशाना चूके तो तुम्हारा लक्ष्यभ्रष्ट तीर मेरे हृदय को विदीर्ण कर देगा, यह तुम निश्चय जानो।

(इन्द्रकुमार का तीर चलाना)

जनता : (नेपथ्य से) जय हो, कुमार इन्द्रकुमार की जय हो। (बाजे बज उठते हैं। युवराज इन्द्रकुमार को गले लगाते है)

ईसाखाँ : पुत्र, अल्ला-ताला की कृपा से तुम युग-युग जियो। महाराज, मझले कुमार पुरस्कार के भागी हुए। आप अपना वचन पालें।

राजधर : नही महाराज, नही। पुरस्कार मुझे मिलना चाहिए। मेरे ही तीर ने लक्ष्य-भेद किया है।

महाराज : कभी नहीं।

राजधर : सेनापति जी, आप जाकर परीक्षा कर लें कि लक्ष्य किसके तीर से बिंधा है।

ईसाख़ाँ : अच्छा, मैं देख आता हूँ।

(प्रस्थान और हाथ में तीर लिए पुनः प्रवेश।)

(इन्द्रकुमार से) बाबा, मैं ठहरा बूढ़ा, आँखें कुछ गलत तो नहीं देख रही? लगता है कि इस तीर पर तो राजधर का ही नाम है।

इन्द्रकुमार : हाँ, नाम तो राजधर का ही है।

महाराज : देखूं तो सही! अरे हाँ, एक ही साथ हम सभी से भूल हो गई!

राजधर : आज ही नहीं, महाराज! मेरे प्रति तो बराबर भूल ही भूल होती आ रही है।

ईसाख़ाँ : कुछ समझ में नहीं आता!

इन्द्रकुमार : मैं समझ गया हूँ।

राजधर : महाराज, आज न्याय करें।

इन्द्रकुमार : (जनान्तिक) न्याय! हुँह्, तुम्हें न्याय चाहिए! फिर तो चूने से मुँह पुतवाना पड़ेगा तुम्हें! वंश की लज्जा मैं नहीं खोलूँगा। तुम्हारा न्याय अन्तर्यामी करेंगे।

ईसाख़ाँ : क्या हुआ है बेटा? इसमें कोई भेद जरूर है। शिला कभी पानी पर तैर नहीं पाती। बन्दर कभी संगीत नहीं सुनाते। बाबा इन्द्रकुमार, ठीक-ठीक बताना तो सही, हुआ क्या है? तरकश की अदला-बदली तो नहीं हो गयी?

राजधर : कभी नहीं। जाँच करा लें।

ईसाख़ाँ : हाँ, सो तो देख रहा हूँ, तरकश तो ठीक ही हैं। अच्छा बाबा इन्द्रकुमार, सच-सच बताओ, इस बीच तुम्हारी अस्त्रशाला में कोई घुसा तो नहीं?

इन्द्रकुमार : उस बात से कुछ आता-जाता नहीं, ख़ाँ साहब!

ईसाख़ाँ : ठीक-ठीक बोलो बापू, तुम निश्चय ही जानते हो!

कोई तुम्हारी अस्त्रशाला में जाकर तीर बदल लाया है।

इन्द्रकुमार : चुप भी कीजिये खाँ साहब। उस बात को रहने दीजिये।

ईसाखाँ : तो तुम हार मानते हो?

इन्द्रकुमार : हाँ, मैं हार मानता हूँ।

ईसाखाँ : शाबाश बेटे, शाबाश! तुम सचमुच राजा के बेटे हो! महाराज, एक निवेदन है मेरा। खेल की परीक्षा तो हो चुकी, अब काम की परीक्षा भी हो जाय। देखा जाय कि काम के मामले में आपका कौन-सा पुत्र पुरस्कार पाता है।

महाराज : सेनापति किस काम की बात कह रहे हैं?

ईसाखाँ : महाराज अराकान-राज के साथ युद्ध करना चाहते हैं। सेना भी तैयार हो चुकी है। इस बार कुमारों को इस युद्ध में भेजा जाय।

महाराज : बहुत अच्छी बात कह रहे हैं सेनापति। खबर मिली है कि अराकान के राजा चटगाँव के सिवाने तक आ गये हैं। उन्हें मैंने बार-बार शिक्षा दी, पर मूर्ख की शिक्षा यमराज की पाठशाला में भेजे बिना पूरी नहीं होती। क्या कहते हो, वत्सगण? अपने कुल के उस चिर-वैरी के विरुद्ध युद्ध-यात्रा करके क्षात्रधर्म की दीक्षा ग्रहण करने के लिए तैयार हो?

इन्द्रकुमार : मैं तो तैयार हूँ। भैया भी जायेंगे।

राजधर : तो क्या आप यह सोच रहे है कि मैं जाऊँगा ही नही?

महाराज : तो ईसाखाँ, आप सेनाध्यक्ष बनकर इन सभी को शत्रु-विजय-यात्रा पर ले जाइये। त्रिपुरेश्वरी आप सबों पर सदा सहाय हों।

दूसरा अंक

पहला दृश्य

(राजधर के शिविर में राजधर और धुरन्धर)

धुरन्धर : तुम पाँच हजार सेना लेकर अलग ही रहोगे क्या ?

राजधर : हाँ, ईसा खाँ के पास मैंने यही प्रस्ताव भेजा था।

धुरन्धर : सो तो मैं जानता हूँ। उस समय मैं वहीं उपस्थित था। इस प्रस्ताव पर कितनी-कितनी बातें भी हुईं।

राजधर : कैसी-कैसी ?

धुरन्धर : सबसे पहले तो इन्द्रकुमार ठठाकर हँस पड़े। बोले : 'राजधर की युद्धप्रणाली ही ऐसी है कि वह युद्धक्षेत्र से बहुत-बहुत दूर रहकर युद्ध करना पसन्द करते है।'

राजधर : सो तो ठीक ही है। रणक्षेत्र में युद्ध करने का काम तो मजदूर करते है। योद्धा तो वह है जो दूर रहकर ही युद्ध कर सके। ईसाखाँ क्या बोले ?

धुरन्धर : यह तो तुम जानते ही हो कि तुम्हारे ऊपर इनका विश्वास कितना और कैसा है। तुम चरण छूने को जाओ तो भी उन्हें यही सन्देह होगा कि तुम जूते उड़ा लेने के इरादे से झुक रहे हो। सो, ईसा खाँ ने कहा : 'इसमें अचम्भे की कौन-सी बात है कि राजधर युद्ध-क्षेत्र से दूर ही दूर रहना चाहते हैं। लेकिन वह पाँच

हज़ार सेना भी साथ रखना चाहते हैं, यह बात मुझे भली जान पड़ती।"

राजधर : युवराज कुछ नहीं बोले ?

धुरन्धर : युवराज को भगवान ने इतनी बुद्धि ही नहीं दी है कि वह किसी पर सन्देह भी कर सकें। और तो और तुम जो तुम हो, उस तुम पर भी उन्हें कोई सन्देह नहीं होता।

राजधर : देखो धुरन्धर, भैया के बारे में तुम ऐसी बात नहीं कर सकते।

धुरन्धर : ओह !—यह बात मैं भूल-भूल जाता हूँ कि तुम्हारा यह स्थल कुछ नरम-नरम सा है। खैर, उन्होंने कहा : "ना ना राजधर के प्रति आप लोग अन्याय कर रहे हैं। उसका प्रस्ताव तो मुझे बहुत अच्छा ही लगा। अगर युद्ध में संकट उपस्थित हो गया तो वह अपनी सेना लेकर हमारी सहायता कर सकेंगे।" युवराज के अनुरोध पर ही ईसा खाँ ने तुम्हारा प्रस्ताव माना। वरना, वह कहाँ चाहते थे ! जो हो, पर अलग रहने में तुम्हारा मतलब क्या है, यह मैं भी समझ नहीं पाया।

राजधर उनके साथ मिलकर युद्ध करने में मेरा लाभ क्या है ? जीतने पर उस जीत को कोई मेरी जीत तो मानने से रहा !

धुरन्धर : फिर भी कोई भूले से भी तो तुम्हारा नाम ले देता। पर अलग रहने पर जीत में भी तुम्हें अपयश ही हाथ आयेगा; हारने पर क्या होगा, इसकी तो बात ही छोड़ दो।

राजधर : अपनी यह पाँच हज़ार सेना लेकर ही मैं युद्ध जीतूंगा और अकेला ही जीतूंगा।

(दूत का प्रवेश)

क्यों रे, युद्ध की क्या खबर है !

दूत — जी, लड़ाई तो सारे दिन चलती है, पर अब तक ये लोग दुश्मन का व्यूह नहीं भेद सके हैं। सूरज के डूबने में अब कोई खास देर नहीं है। लगता है कि अँधेरा हो जाने पर आज की लड़ाई तो बन्द ही रखनी पड़ेगी।

(दूसरे दूत का प्रवेश)

राजधर — कौन हो ?

दूसरा दूत — जी, मैं व्योमकेश हूँ। मुझे युवराज ने भेजा है। उनके आदेश मिले भी लगभग दो पहर हो गये। सेना लेकर आपके जहाँ पर रहने की बात थी, वहाँ पर आपका कोई पता न मिलने पर बड़ी खोज-पूछ के बाद यहाँ पहुँचा हूँ।

राजधर — युवराज का आदेश क्या है ?

दूत — शत्रुबल हमारे अनुमान से कहीं अधिक है। युद्ध अत्यंत कठिन हो उठा है। कुमार इन्द्रकुमार ने अपने घुड़सवार-दल को लेकर शत्रु-सेना के उत्तर की ओर आक्रमण किया था। कुछ ही क्षण और मिल जाते तो वह उधर से शत्रु सेना को हटाकर बिलकुल नदी-किनारे तक ला सकते थे।

राजधर — सच ? समय मिलने पर क्या कर लेते, यह कल्पना करने में कोई लाभ तो दिखाई नहीं पड़ता; पर लगता है कि उन्हें समय नहीं मिला। क्यों ?

दूत — शत्रु-सेना को लगभग हटा चुके थे कि युवराज के संकट में पड़ जाने की खबर मिली। युवराज घिर गये थे। ईसाखाँ उस समय किसी और दिशा में युद्ध कर रहे थे। उन्हें खबर मिली तो बोले कि मैं यहाँ लड़ाई जीतने आया हूँ, युवराज को बचाने के लिए

नहीं आया। लडाई मुझे जीतनी ही है और मेरे यहाँ से हटते ही शत्रु को बडी सहूलियत हो जायगी।

राजधर : तो क्या भैया—

दूत : जी नहीं, वह विपत्ति घटित नहीं हुई। इन्द्रकुमार सेना लेकर पहुँच गये और उन्हे बचा लाये। लेकिन इस गडबड़ में लडाई का पाँसा हमारे खिलाफ पलट गया है। आपको ढूँढने के लिए चारों ओर अनेक दूत भेजे गये है। आपका सहारा न मिलने पर विपत्ति घटित भी हो सकती है। इसलिए आप अब और तनिक भी देर न करे।

राजधर : नहीं, देर तनिक भी नहीं होगी। जाओ, तुम आराम करो; मैं तैयार हो रहा हूँ।

(दूत का प्रस्थान)

×× ×× ××

(दूसरा दृश्य)

(अराकान-राज की छावनी में अराकान-राज और राजधर)

अराकान-राज: देखिये राजकुमार, मुझे क़ैद करके आपको कोई लाभ न होगा।

राजधर : क्यों न होगा, राजन्? इस युद्ध में आपका लाभ करना ही सबसे बड़ा लाभ है।

अ० राज : इससे युद्ध की समाप्ति नहीं होगी। मेरा भाई हामचू अभी मौजूद है। सेना उसी को राजा बना देगी और लडाई पहले की तरह चलती रहेगी।

राजधर : आपको मुक्ति ही दूँगा, पर बिलकुल ही मुफ्त में तो मुक्ति दी नहीं जाती!

अ० राज : सो मैं जानता हूँ। कुछ देना होगा। मैं आपसे पराजय स्वीकार करके संधिपत्र लिख देने को तैयार हूँ।

राजधर : सिर्फ़ सधिपत्र क्या होगा, महाराज ? आपके पराजय-स्वीकार की कोई निशानी तो चाहिए ही।

अ० राज : आपको पाँच सौ वर्मी घोड़े और तीन हाथी भेंट करूँगा।

राजधर : वह भेंट मुझे नही चाहिए। महाराज अपने सिर का मुकुट दे दें।

अ० राज : उससे तो प्राण दे देना ही अधिक सरल होता !

राजधर : प्राण देकर भी मुकुट तो बचाने से रहे ! व्यर्थ में प्राण और दे देंगे !

अ० राज : तो फिर मुकुट ले लें। पर याद रखें, इस मुकुट के साथ आप अराकान की चिर-शत्रुता भी स्वीकार कर रहे हैं। जब तक यह मुकुट हमें वापस नही मिलेगा, तब तक मेरे राज-वंश को चैन नहीं आयेगा।

राजधर : यह हुई राजा-जैसी बात ! हमें भी तो चैन नही चाहिए महाराज ! हम क्षत्रिय है ! खैर, एक और काम बच रहा है। युद्धविराम का आदेश जल्दी से अपने सेनापति के पास भिजवा दें। इस घड़ी उस पार युद्ध की तैयारी हो रही है।

अ० राज : आदेश लेकर दूत अभी इसी क्षण जा रहा है।

राजधर . तो फिर चलिये. सन्धि-पत्र लिखने की व्यवस्था की जाय।

तीसरा दृश्य

(रणभूमि में युवराज और इन्द्रकुमार)

युवराज : आज की लड़ाई के आसार अच्छे नही लगते। लगता है, हमारे सैनिक कल की बात से आज भी जी छोटा किये हुए हैं। वे ठीक से लड़ नही रहे। ईसा खाँ किधर है ?

इन्द्रकुमार : उधर वह-देखिये, पूरब के कोने में उनका निशान दिख रहा है।

युवराज : भाई, आज मेरे संग-संग क्यों लगे हो तुम ? तुम्हे तो शायद उत्तर की ओर जाना था !

इन्द्रकुमार : मैं यहीं अच्छा हूँ।

युवराज : इन्द्रकुमार, आज तुम अपने भैया को बेवकूफी करने से बचाने के लिए ही संग-संग लगे फिर रहे हो ! तुम्हें यह अच्छा नहीं लगता कि खाँ साहब को फिर मौका मिले और वह मेरी अक़ल में खोट खोज निकालें। मगर भाई, मेरी नादानी की भी एक सीमा तो है ही ! लगता है, आज मैं सावधानी से काम कर सकूंगा। वह-देखो, वह-क्या, यह तो अपनी ही सेना हटती जान पड़ती है। पीठ दिखाकर भाग खड़ी होने को है ! तुम्हारे सिवा और कोई भी उसे रोक नही सकेगा। इन्द्रकुमार, देर मत करो। मेरे लिए डरने की कोई बात नही। यह-क्या, यह-क्या, यह-क्या !

इन्द्रकुमार : सचमुच यह-क्या ! शत्रु ने अचानक लड़ाई बन्द क्यों कर दी ?

×× ×× ××

(ईसाखाँ का प्रवेश)

खाँ साहब, कोई खबर मिली है ? शत्रु ने अचानक लड़ाई बन्द क्यों कर दी ?

ईसाखाँ : मिली है खबर, जरूर मिली है। राजधर ने अराकान-राज को बन्दी बना लिया है।

इन्द्रकुमार : राजधर ने ? नही, यह नही हो सकता !

×× ×× ××

ईसाखाँ : कल साँझ पड़ने के बाद जिस समय हम लड़ाई बन्द करके छावनी लौट रहे थे, उस समय उसने चुपके-

चुपके अँधेरे में नदी पार कर ली और अराकान-राज की छावनी पर औचक छापा मारकर उन्हें क़ैद कर लिया। सहायता के लिए जहाँ पर उसे तैनात किया था मैंने, वहाँ तो वह था ही नहीं। मैं सेनापति हूँ, पर मेरे आदेश को वह कभी मानता ही नही।

इन्द्रकुमार : असह्य ! इसके लिए उसे दण्ड मिलना चाहिए।

ईसाख़ाँ : इतना ही नही ! युवराज के होते हुए भी उसने अपनी मरजी के मुताबिक़ सन्धिपत्र लिखवाया है।

इन्द्रकुमार : इसका दण्ड न देना ही अन्याय होगा।

ईसाख़ाँ : अपने भैया को यह सीधी-सी बात समझा दो ना ज़रा।

(राजधर का प्रवेश)

इन्द्रकुमार : राजधर, तुमने कायरता का परिचय दिया है।

राजधर : तुम्हारी तरह लड़ाई को तीन-तेरह करके पुरुषकार का परिचय देने तो मैं इतनी दूर आया नहीं। मैं तो लड़ाई में जीत हासिल करने आया था।

इन्द्रकुमार : तुमने लड़ाई की है ? और जीत हासिल की है ? तुमने तो विजय-लक्ष्मी का मुँह लज्जा के मारे लाल कर दिया है !

राजधर : हो भी सकता है। पर वह लज्जा प्रणय की लज्जा होगी। लेकिन उन्होंने मुझे वरण किया है, इसका प्रमाण यह रहा !

इन्द्रकुमार : यह मुकुट किसका है ?

राजधर : यह मुकुट मेरा है। यह मेरी जीत का पुरस्कार है !

इन्द्रकुमार : तुम तो लड़ाई से भाग खड़े हुए हो, तुम्हें किस बात का पुरस्कार मिलेगा ? यह मुकुट युवराज पहनेंगे।

राजधर : जीत कर लाने वाला मैं हूँ, पहनूँगा भी मैं ही।

युवराज : राजधर ठीक कह रहे है। अपनी जीत का धन वही

भोगेंगे।

ईसालों : सेनापति के आदेश का उल्लघन करके इन्होंने अँधेरे में स्यार की वृत्ति का सहारा लिया। और फिर भी मुकुट पहनेंगे ये ? इन्हे तो टूटी हाँड़ी का कनखा पहनकर देश जाना शोभा देगा।

राजधर : मैं न होता तो आप सभी को टूटी हाँड़ी का कनखा पहनना पडता। अभी आप होते कहाँ भला ?

इन्द्रकुमार : कहीं भी होते, तुम्हारी तरह भगोडे तो नही होते !

युवराज : इन्द्रकुमार,यह तुम्हारा अन्याय है भाई। सच कहने में क्या लगता है ? सच तो यही है कि राजधर न होता तो आज तुम पर आफत आई होती।

इन्द्रकुमार : कोई आफत नही आती। राजधर ने सेना छिपाये रखकर ही हमें आफत में डालने की कोशिश की थी। राजधर न होता तो यह मुकुट मैं युद्ध करके लाता। राजधर चोरी करके लाया है। भैया, यह मुकुट मैं तुम्ही को पहनाता, खुद तो हरगिज़ नही पहनता।

युवराज : (राजधर से) भाई, आज तुम्ही जीते हो। तुम न होते तो इतनी थोड़ी सेना लेकर पता नही हम कैसी विपदा में फँस गये होते ! यह मुकुट मैं तुम्ही को पहना रहा हूँ।

इन्द्रकुमार : (रुद्ध कण्ठ से) राजधर ने क्षात्र-धर्म का उल्लंघन किया है। इसीलिए आज तुमसे पुरस्कार मिला है उसे ! और मैं जो जान हथेली पर लिए आफ़त के मुँह में खड़ा युद्ध करता रहा, इसीलिए तुम्हारे मुँह से प्रशंसा का एक शब्द तक नही निकला। तुम्हारे मुँह से आज यह भी सुनना पडा कि राजधर न होता तो तुम्हे आफत से कोई भी बचा नही सकता था ! क्यों भैया, मैं क्या भिनसारे से सझा तक तुम्हारी आँखों

के आगे खड़ा लड़ता नहीं रहा हूँ ? मैं क्या रण छोड़ कर भाग खड़ा हुआ ? मैं क्या शत्रु का व्यूह तोड़कर तुम्हारी सहायता को नहीं पहुँचा ? तुमने क्या देख-कर यह कहा कि तुम्हारा स्नेह-भाजन राजधर न होता तो तुम्हें आफ़त से बचाने वाला और कोई न था ?

युवराज : भाई, मैं अपनी आफ़त की बात नहीं करता।

इन्द्रकुमार : रहने दो भैया, रहने भी दो! और कुछ कहने की जरूरत नही है। राजधर जैसे असाधारण वीर सहाय हैं तो फिर मेरी जरूरत ही क्या रही तुम्हें! मैं तो चला!

युवराज : भाई, फिर ?—फिर तुम आत्मविस्मृत हो रहे हो ?

इन्द्रकुमार : जहाँ मेरी कोई जरूरत ही नहीं हो, वहाँ रहना अपने आपका अपमान करना है।

(प्रस्थान)

ईसाख़ाँ : युवराज, यह मुकट किसी को भी देने का तुम्हें कोई अधिकार नही है। सेनापति मैं हूँ, मैं जिसे दूँगा, उसी का होगा यह मुकुट।

(राजधर के सिर से मुकुट लेकर युवराज को पहनाने लगते हैं)

युवराज : (खिसककर) ना ना, यह मुकुट मैं नही ले सकता।

ईसाख़ाँ : तो फिर रहे। यह मुकुट कोई नहीं पहनेगा। यह कर्ण-फूली के पानी में जाय।

(कर्णफूली नदी के पानी में मुकुट फेंकते हैं)

राजधर ने युद्ध के नियम का उल्लंघन किया है, वे दण्ड के भागी हैं।

राजधर : भैया, तुम साक्षी रहे। यह मैं कभी नहीं भूलूंगा।

×× ×× ××

चौथा दृश्य

(छावनी में राजधर और धुरन्धर)

राजधर : धुरन्धर, जहाँ मेरा मुकुट गया है, कर्णफूली की उसी धारा में विजय को भी जलांजलि दे दूंगा।

धुरन्धर : अब फिर हारोगे क्या ?

राजधर : हाँ, इस बार हारकर जीतूंगा। इन्द्रकुमार के अहङ्कार को धूल में मिलाये बिना मैं लौटने का नही। मेरे हाथों हासिल हुई जीत को वह ग्रहण नही कर सकते। देखना है, इस बार अपने बल-बूते पर वह किस तरह जीतते है।

धुरन्धर : इतने अधिक निश्चिन्त भी मत हो लेना। संयोग से जीत भी जा सकता है। सच बात पर मुंह फुलाने से काम नही चलेगा; यह समझ लो इन्द्रकुमार ने युद्ध की विद्या सचमुच कुछ-कुछ सीख ली है।

राजधर : अच्छा, वह सब विवाद पीछे होगा। अभी तुम्हें एक और काम करना होगा। अराकान-राज कल सवेरे ही कूच कर रहे है। शर्त है कि चटगांव की सीमा से उनके बाहर निकल जाने तक उनके सेनापति मेरी छावनी में नजरबंद रहेगे। काम यह है कि उनकी छावनी उखड़ने के पहले ही आज रात को तुम चुपके से उनके पास पहुँच जाओ और मेरी यह चिट्ठी उन्हें दे आओ। किसी को कानों कान खबर न होने पाये।

धुरन्धर : चिट्ठी में जो बात हो, वह मुझे मालूम रहे तो अच्छा ही होगा। इससे लाभ यह होगा कि दो-एक बात करने की जरूरत पड़ गयी तो काम निपटाता ही आऊँगा।

राजधर : मैंने लिखा है : "मेरा अपमान हुआ है, इसलिए मैंने अपने भाइयों से अवकाश ले लिया है। अपने पांच

हजार सैनिकों को लेकर मैं घर लौटने के बहाने दूर खिसक जाऊँगा। इन्द्रकुमार भी भैया से रूठकर चला गया है। लड़ाई समाप्त हुई जानकर सैनिक भी लौटने की तैयारी में है इस अवसर पर अराकान-राज हमला करे तो त्रिपुरावालों की हार निश्चित है ."

तीसरा अंक

पहला दृश्य

(रणभूमि में इन्द्रकुमार और सैनिक)

इन्द्रकुमार : कहाँ, कहाँ, कहाँ ?—अरे, भैया कहाँ है ?

सैनिक उन्ही को तो खोज रहा हूँ प्रभो।

इन्द्रकुमार : और ईसा खाँ ?

सैनिक : आज चार बजे युवराज अपने हाथों से ईसा खाँ को मिट्टी दे आये। उस मिट्टी मे उनका अपना लहू भी मिल गया था।

इन्द्रकुमार : धिक्-धिक् ! इन्द्रकुमार, तुझे धिक्कार है ! धिक्कार है तेरे चाण्डाल मान को, तेरे रूठने को ! भैया, भैया, इस नराधम को एक बार क्षमा माँगने का अवसर भी नही दोगे ? (चिल्लाकर) भैया, बोलो ! सिर्फ पल भर के लिए बोलो ! अरे, यहाँ और कोई नही है क्या रे ? जो जहाँ कही हो, वह उन्हें खोजने में लग जाय। आज तो मुझे भैया से मिलना ही होगा, मिलना ही होगा !

(दूसरे सैनिक का प्रवेश)

दूसरा सैनिक : इधर चलिये कुमार। उनके दर्शन हो गये है।

इन्द्रकुमार : कहाँ, कहाँ ?

दूसरा सैनिक: कर्णफूली के किनारे अर्जुन के पेड़ तले।

इन्द्रकुमार : सच-सच बता, वह क्या—

दूसरा सैनिक : वह जीवित हैं। आपकी ही राह देख रहे हैं।

दूसरा दृश्य

(कर्णफूली किनारे पेड़ तले धुंधली चाँदनी में युवराज)

युवराज : अरे खिसका दे रे, ज़रा खिसका दे! इन डालों को खिसका दे कि ज़रा चांद को देख लूं। कोई नहीं है? यह पेड़ की ही छाया है, या मेरी आँखें धुंधलाने लगीं? कर्णफूली का कलकल शब्द तो अभी भी सुनाई पड़ रहा है! तो क्या पृथ्वी का अंतिम विदा-संभाषण इस कलकल शब्द के रूप में ही सुनना बदा है? इन्द्रकुमार, भाई इन्द्रकुमार! तुम्हारा रोष अब भी नहीं गया?

(इन्द्रकुमार का प्रवेश)

इन्द्रकुमार : भैया, भैया!

युवराज : आह, जीवन मिला भाई! मैं जानता था कि तुम ज़रूर आओगे। इसीलिए इतनी देर हो जाने पर भी जिये जा रहा था। तुम रूठकर चले गये थे, इसीलिए मैं जा नहीं पा रहा था। लेकिन रात बहुत हो गयी है भाई, अब सोता हूँ; माँ ने गोद बिछा रखी है।

इन्द्रकुमार : भैया, माफ़ तो कर दिया न? मार्जना तो हो गयी न?

युवराज : सारा कुछ, सारा-कुछ! यहाँ का जो कुछ भी था, सारे कुछ की मार्जना इस रक्त से कर चला। कुछ भी बचा नहीं रहने दिया। बस एक ही दुख रह गया है: महाराज के पास खबर भेजनी होगी कि मेरी पराजय हो गयी है।

इन्द्रकुमार : पराजय तुम्हारी नहीं हुई भैया, मेरी पराजय हुई है।

(सैनिक का प्रवेश)

सैनिक : कुमार राजधर ने युवराज की चरणधूलि लेने के लिए प्रार्थना भेजी है।

इन्द्रकुमार : कभी नहीं ! किसी हालत में नही !

युवराज : बुलाओ, बुलाओ। उसे बुलाओ।

इन्द्रकुमार : (खिसियाकर) भैया, राजधर को—

युवराज : फिर भाई ? फिर ?

इन्द्रकुमार : ना ना ना, अब और नही। अब और रोप नहो होने का मुझे।

(राजधर का प्रवेश और प्रणाम)

राजधर : मैं पतित हूँ, नराधम हूँ। यह मुकुट तुम्हारे पैरों में रखता हूँ। यह तुम्हारा ही है।

युवराज : मुझे अब समय नही है। इन्द्रकुमार को दे दो, भाई।

राजधर : भैया का आदेश सिर-आंखों पर। यह मुकुट तुम लो।

इन्द्रकुमार : मैं पराजित हूँ,—यह मुकुट मेरा नहीं। यह मैंने तुम्ही को पहनाया। भैया !

अनु० : २४ चैत्र १८८३ श०

जहाँ चित्त भय-शून्य

जहाँ चित्त भय शून्य, जहाँ सिर उन्नत
ज्ञान मुक्त; प्राचीर गृहों के, अक्षत
वसुधा का जहाँ न करके खंड-विभाजन
दिन-रात बनाते छोटे-छोटे आँगन;
प्रति हृदय-उत्स से वाक्य उच्छ्वसित होते
हों जहाँ; जहाँ कि अजस्र कर्म के सोते
अव्याहत दिशि-दिशि, देश-देश बहते हों,
चरितार्थ सहस्रों-विध होते रहते हों;—
धारापथ को न विचारों के, ग्रस लेती
हो जहाँ तुच्छ आचारों की मरु-रेती;
शतधा न जहाँ पुरुषार्थ; जहाँ पर संतत
सब कर्म-भाव आनन्द, तुम्हारे अनुगत;
हे पिता, उसी स्वर्लोक में करो जाग्रत,
निज-कर निर्दय ठोकर देकर, यह भारत !

प्रथम प्रकाशन मई १९०१ अनु० १२ आश्विन १८७९ श०

जिसे पताका अपनी तुम देते हो

जिसे पताका अपनी तुम दे देते हो,
उसको देते ले चलने की शक्ति भी।
कठिन तुम्हारी सेवा की है साधना,
उसे झेलने को देते हो भक्ति भी।

इसीलिए मेरे प्राणों के प्राण
दुख माँगें, पर माँगें दुख से त्राण;
जो वेदना मिली तुमसे वरदान,
उससे कतराकर न चाहिए मुक्ति भी।
दुख होगा मेरे सिर का मणि-माल,
अगर साथ ही दोगे मुझको भक्ति भी।

जितना चाहो काम करा लो खुशी-खुशी;
इतना करना, तुम्हें न जाऊँ भूल मैं।
इतना करना, मेरे अंतःकरण पर
पड़ें न जंजालों के जाल जफ़ूल में।

जितना चाहो बाँधो कस-कस डोर को,
खोले रखना केवल अपनी ओर को,
भले धूल में हो हरदम मुझको रखो,
रखना मुझे पवित्र चरण की धूल में।

भले भुलाये रखना तुम संसार में;
इतना करना, तुम्हें न जाऊँ भूल मैं।

भटकूँगा, भटका लो, राह तुम्हारी है;
इतना करना, आखिर पहुँचूँ चरण में।
मुझे बहाये मेरे श्रम-क्लम ले जायें,
सकल-भ्रांति-श्रम-हरण तुम्हारी शरण में।

दुर्गम जगती के जंगल की राह यह;
बलिदानों, शोकों, विरहों का दाह यह;
जीते जी हो मरण-भार, पर चाह यह,
प्राणों को मिल जायें प्राण तो मरण में!
साँझ पहर तो पाऊँ रैन-बसेरा मैं
आखिर निखिल-शरण चरणों के चरण में!

अनु० : १७ फाल्गुन १८८२ शा०

राजर्षि

गुजुरपाड़ा ब्रह्मपुत्र के किनारे पर एक छोटा-सा गाँव है। वहाँ के एक छोटे-से जमींदार हैं पीताम्बर राय। बस्ती कोई बड़ी नहीं है। पीताम्बर अपने पुराने चण्डी-मण्डप में विराजते हुए अपने आपको राजा कहा करते हैं। उनकी प्रजा भी उन्हें राजा ही कहती है। उनकी राजा-महिमा अमराइयों और चिरौंजी-वनों से घिरे इस क्षुद्र ग्राम की सीमाओं के भीतर ही विराजती है। उनका यश इस गाँव के निकुञ्जों में गुंजित होकर ग्राम-सीमा के भीतर विलीन हो जाता है। जगती के बड़े-बड़े राजाधिराजों का प्रखर प्रताप इस छायामय नीड़ में प्रवेश नहीं कर पाता। नदी के किनारे पर एक बड़ा-सा महल है, जिसे त्रिपुरा के राजाओं ने केवल तीर्थ-स्थान के निमित्त बनवाया है। पर बहुत दिनों से कोई भी राजा स्नान के लिए नहीं आया। इसलिए त्रिपुरा के राजा के सम्बन्ध में ग्रामवासियों को एक प्रचलित अस्पष्ट जनश्रुति के अतिरिक्त और कोई भी जानकारी नहीं है।

एक दिन भादों के महीने में गाँव को एक संवाद मिला कि त्रिपुरा के एक राजकुमार नदी-तट के पुराने महल में निवास करने के लिए आ रहे हैं। कुछ दिनों बाद अनेकानेक पगड़ीधारी लोग आ पहुँचे। धूम-सी मच गयी। उसके लगभग एक सप्ताह बाद हाथी-घोड़े, लोग-लश्कर आदि लेकर स्वयं नक्षत्रराय गुजुरपाड़ा गाँव में आ पहुँचा। ठाट-बाट देखकर गाँव वाले मुँह बाये के बाये रह गये। आज तक पीताम्बर ही बड़े भारी राजा जान पड़ते थे, लेकिन आज तो किसी को पीताम्बर का ध्यान तक न रहा। नक्षत्रराय को देखकर

सभी ने एक स्वर से यही कहा कि "हाँ, राजकुमार सचमुच इसी प्रकार के हुआ करते हैं !"

इस तरह पीताम्बर अपने पक्के दालान और चण्डी-मण्डप समेत अलोप तो हो गये, पर उनके आनन्द का कोई ठिकाना न रहा। नक्षत्रराय को उन्होंने अपने मन में ऐसा राजा माना कि अपनी क्षुद्र राजमहिमा नक्षत्रराय के चरणों में पूर्ण रूप से विसर्जित करके वे परम सुखी हुए। नक्षत्रराय कभी हाथी पर सवार होकर बाहर निकलते तो पीताम्बर अपनी प्रजा को पुकारकर कहते : "राजा देखा है ? वह देख, राजा देख !" मछली-तरकारी की भेंट लेकर वह प्रतिदिन नक्षत्रराय के दर्शनों के लिए उपस्थित होते। नक्षत्रराय के तरुण सुन्दर मुखमण्डल को देखकर पीताम्बर का स्नेह उच्छ्वसित हो उठता। इस प्रकार नक्षत्रराय ही उस गाँव के राजा हो उठे। पीताम्बर ने अपना नाम खुशी-खुशी प्रजावर्ग में लिख लिया।

प्रतिदिन तीन-तीन बार नौबत बजने लगी। गाँव के रास्तों पर हाथी-घोड़े चलने लगे। राजद्वार पर नंगी तलवार की बिजली कौंधने लगी। हाट लगने लगी। पीताम्बर पुलकित हो उठी। उनकी प्रजा पुलकित हो उठी। नक्षत्रराय इस निर्वासन के राजा हो उठे और इस प्रकार अपने सारे दुख भूल गये। यहाँ राजा का भार तो कुछ भी नहीं था, और राज के सुख सारे के सारे थे। यहाँ वह पूरे स्वाधीन थे। अपने देश मे उनका इतना प्रबल प्रताप कभी नहीं रहा। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि यहाँ पर रघुपति की छाया तक न थी। मन के पूरे उल्लास के साथ नक्षत्रराय विलास में मग्न हो गये। ढाका से नर्तक-नर्तकियों को बुलाया जाने लगा। नाच-रंग, गाना-बजाना चाहे जितना भी हो, नक्षत्रराय को उससे अरुचि कभी नहीं हो सकती थी।

नक्षत्रराय ने त्रिपुरा के सभी राज-अनुष्ठान अपना लिये। नौकरों में से किसी को मन्त्री तो किसी को सेनापति कहने लगे। पीताम्बर दीवानजी कहलाने लगे। नक्षत्रराय बाक़ायदा दरबार लगाने लगे। नकुड़ ने नालिश की कि "मथुर ने मुझे 'कुत्ता' कहा है !"

इस नालिश पर बाक़ायदा विचार हुआ। विविध प्रमाणों की परीक्षा के बाद मथुर दोषी साबित हुआ और विचार के आसन से नक्षत्रराय ने परम गंभीर भाव से आदेश दिया : 'नकुड़ मथुर के कान दो बार मल दे!' इस प्रकार सुख से समय कटने लगा। कभी किसी दिन काम का टोटा पड़ जाता तो तीन लोक से न्यारे किसी नये आमोद-विनोद की उद्भावना करने के लिए मन्त्री महोदय तलब किये जाते। मन्त्री महोदय राजसभासदों को समवेत करके नितान्त उद्विग्न और व्याकुल भाव से नया खेल ढूंढ़ निकालने में प्रवृत्त हो जाते। गम्भीर चिन्ता और परामर्शों का कोई ओर-छोर नहीं रह जाता। एक दिन फौज-फाटे लेकर पीताम्बर के चण्डी-मण्डप के ऊपर आक्रमण किया गया था और उनके पोखरे से मछली तथा उनके बाग़ से डाभ और पालक लूट कर बड़ी धूम-धाम और गाजे-बाजे के साथ लूट के माल को महल में लाया गया था। इस प्रकार के खेलों से नक्षत्रराय के प्रति पीताम्बर का स्नेह और भी प्रगाढ़ हो उठता था।

उस दिन राजमहल में बिल्ली के छौने का विवाह था। नक्षत्रराय की शिशु-बिल्ली के साथ मण्डल-घराने के बिल्ले का ब्याह रचाया जाना था। चूड़ामणि घटक को घटकैती में तीन सौ रुपये और एक दुशाला मिला था। हल्दी चढ़ाने आदि की सारी रस्में पूरी हो गयी थीं। साँझ के समय शुभ लग्न में ब्याह होना था। कई दिनों से राजमहल में किसी को पल भर की भी फ़ुरसत नहीं मिल पायी थी।

साँझ पहर राह-बाट, हाट-घाट आदि में रोशनी की गयी। नौबत बजी। मण्डल-घराने से बारात चली। दूल्हा किमखाब की पोशाक पहने पालकी में बैठा रास्ते भर म्याऊँ-म्याऊँ करता रहा। मण्डल के घर का छोटा लड़का शहबाला की तरह पालकी में दूल्हे के साथ बैठा, दूल्हे के गले की रस्सी थामे रहा। उलु-ध्वनि और शङ्ख-ध्वनि के बीच बारात दरवाजे लगी।

पुरोहित जी का असल नाम तो केनाराम था, पर नक्षत्रराय ने

उनका नाम रखा था रघुपति। नक्षत्रराय असली रघुपति से बुरी तरह डरते थे, इसलिए इस नक़ली रघुपति को खिलौना बनाने में उन्हें बड़ा सुख मिलता था। बात-बात में उसे सताते थे। बेचारा केनाराम चूं-चपड़ किये बिना सबकुछ चुपचाप सह लेता था। आज दैव-दुर्विपाक से केनाराम सभा से अनुपस्थित था। उसके लड़के को तेज बुखार हो आया था।

नक्षत्रराय ने अधीर स्वर में पूछा, "रघुपति कहाँ है ?"

नौकर बोला, "उसके घर पर कोई बीमार है।"

नक्षत्रराय दूने जोर से चिल्लाकर बोले, "बोलाओ उसको !"

बुलाने को आदमी दौड़ पड़ा। तब तक रुआंसे-रुआंसे बिल्ले के सामने नाच-गाना होता रहा।

नक्षत्रराय बोले, "शहाना गाओ !" शहाना राग शुरू हुआ।

कुछ देर बाद नौकर ने आकर निवेदन किया, "रघुपति आये हैं।"

नक्षत्रराय रोष के साथ बोले, "बोलाओ !"

तभी पुरोहित ने प्रवेश किया। पुरोहित को देखते ही नक्षत्रराय के चढ़े हुए तेवर न जाने कहाँ बिला गये। उनकी मुद्रा में पूर्ण भावान्तर उपस्थित हो गया। उनका मुखमण्डल विवर्ण हो गया। माथे पर पसीना चमचमा उठा। शहना राग का गाना और सङ्गत की सारङ्गी और मृदङ्ग का बजना सहसा बन्द हो गया। निस्तब्ध दरबार में केवल बिल्ले का म्याऊँ-म्याऊँ स्वर दूना होकर गूँजता रहा।

ये सचमुच रघुपति ही थे। सन्देह की कोई गुंजायश नहीं रह गयी। दीर्घ, शीर्ण, तेजस्वी। आँखें बहुत दिनों के भूखे कुत्ते की तरह अंगार हो रही थीं। धूल में अटे पैर किमखाब की मसनद के ऊपर प्रतिष्ठित करके वे छाती फुलाकर खड़े हो गये। बोले "नक्षत्रराय !"

नक्षत्रराय चुप्पी साधे रहे।

रघुपति बोले, "तुमने रघुपति को पुकारा है। लो, मैं आ गया !"

नक्षत्रराय अस्फुट स्वर में बोले, "ठाकुर,—ठाकुर !"

रघुपति ने कहा, "उठ आओ।"

नक्षत्रराय धीरे-धीरे उठकर दरबार से चले गये। बिल्ले का ब्याह, शहाना राग और सारङ्गी की सङ्गत जो बन्द हुई सो फिर बन्द की बन्द ही रही।

×× ×× ××

रघुपति ने पूछा, "यह-सब क्या हो रहा था ?"

नक्षत्रराय ने सिर खुजाकर कहा, "नाच हो रहा था।"

रघुपति घृणा से सिकुड़कर बोले, "छी-छी !"

नक्षत्रराय अपराधी की तरह खड़े रहे।

रघुपति ने कहा, "कल यहाँ से रवाना होना है। तैयारी करो।"

नक्षत्रराय ने पूछा, "कहाँ जाना होगा ?"

रघुपति : "वह बात पीछे होगी। बस, मेरे साथ निकल पड़ो।"

नक्षत्रराय ने कहा, "मैं यहीं ठीक हूँ।"

रघुपति : "हुँह, 'ठीक हूँ !' तुम राज-घराने में जन्मे हो, तुम्हारे सभी पुरखों ने राज ही किया है। और तुम हो कि इस जंगली गाँव के स्यार-राजा हुए बैठे हो और कहते हो कि 'ठीक हूँ !' "

रघुपति के तीखे बोलों और पैने कटाक्षों ने यह सिद्ध कर दिया कि नक्षत्रराय भले लोग नहीं हैं। नक्षत्रराय ने भी रघुपति के मुख-मण्डल के तेज से प्रभावित होकर बहुत-कुछ वैसा ही महसूस किया। बोले, "ठीक तो क्या खाक हूँ ? जो हूँ सो हूँ, यह आप देख लें ! पर लाचार हूँ। और कर भी क्या सकता हूँ ? उपाय ही क्या है ?"

रघुपति : "उपाय ढेर सारे हैं, उपायों की कोई कमी नहीं। मैं तुम्हें उपाय बताऊँगा, तुम मेरे सङ्ग चलो तो सही।"

नक्षत्रराय : "दीवानजी से पूछ लेता।"

रघुपति : "नहीं।"

नक्षत्रराय : "मेरे ये सामान—"

रघुपति : "इनकी कोई जरूरत नहीं।"

नक्षत्रराय : "मेरे लोग-वाग—"

रघुपति : "जरूरत नही।"

नक्षत्र : "मेरे पास इस समय यथेष्ट रुपये-पैसे भी नही।"

रघुपति : "मेरे पास है। और कोई उज्र-एतराज मत करना। आज सो जाओ, कल सवेरे ही रवाना होना है।"

और उत्तर की कोई राह देखे बिना ही रघुपति वहाँ से चले गये।

अगले दिन सवेरे नक्षत्रराय सोकर उठे तो वन्दीजन ललित रागिनी में मधुर गीत गा रहे थे। नक्षत्रराय वाहरवाले कमरे में आकर खिडकी से बाहर झाँकने लगे। पूरब के क्षितिज पर सूरज उग रहा था, अरुण-रेखा दिखाई पड़ रही थी। दोनों किनारों के घने तरुकुंजों के बीच से, छोटे-छोटे निद्रित ग्रामों के द्वारों के पास से, ब्रह्मपुत्र अपनी विपुल जलराशि लेकर अबाध बहा जा रहा था। महल के झरोखे से नदी किनारे की एक छोटी-सी झोंपड़ी दिखाई पड़ रही थी। एक स्त्री आँगन बुहार रही थी। एक पुरुष उससे दो-एक बात करके, सिर पर चादर का मुरेठा बाँधकर, बाँस की एक बड़ी-सी लाठी के छोर पर पोटली बाँधकर, निश्चिन्त मन से कही बाहर निकल गया। श्यामा और दोयल चिड़ियाँ सीटियाँ बजा रही थीं। पेंड़की कटहल के बड़े पेड़ के घने पत्तों में बैठी गीत गा रही थी। खिड़की से बाहर झाँकने पर नक्षत्रराय के हृदय से एक गहरा दीर्घ निश्वास उठा। ठीक उसी समय पीछे से रघुपति ने नक्षत्रराय की देह छुई। नक्षत्रराय चौंक उठे। मृदु-गम्भीर स्वर में रघुपति ने कहा, "यात्रा के समस्त उपकरण प्रस्तुत है।"

नक्षत्रराय ने हाथ जोड़कर अत्यन्त कातर स्वर में कहा, "ठाकुर, मुझे माफ़ कर दो, ठाकुर;—मैं कही जाना नही चाहता। मै यही ठीक हूँ।"

रघुपति बोले तो एक शब्द नही, पर नक्षत्रराय को अग्नि-दृष्टि से घूरने लगे। नक्षत्रराय ने निगाहें नीची करके पूछा :

"कहाँ जाना होगा ?"

रघुपति : "वह बात अभी बताने की नही।"

नक्षत्र : "भैया के विरुद्ध मैं कोई चक्रचाल नही चल सकूंगा।"

रघुपति जल-भुन उठे। बोले : "भैया ने तुम्हारा कौन-सा महान् उपकार किया ह भला ?"

नक्षत्र मुंह फेरकर खिड़की खरोंचते हुए बोले : "मैं जानता हूँ, वे मुझे प्यार करते हैं।"

रघुपति ने तीखी सूखी हँसी के साथ कहा, "हरि हरि ! वाह रे प्यार ! उन्होंने शायद प्यार के मारे ही झूठे बहाने करके तुम्हें राज्य से मार भगाया, ताकि निर्विघ्न होकर युवराज-पद पर ध्रुव का अभिषेक कर सकें ! ताकि ऐसा न हो कि स्नेह का भाई, कच्चे मक्खन की पुतली नक्षत्रराय राज-पाट के गुरु-भार से व्यथित हो पड़े। उस राज्य में क्या तुम फिर कभी सहज प्रवेश पा सकोगे ? नादान कहीं के !"

नक्षत्रराय हड़बड़ाकर बोल उठे : "यह मामूली-सी बात भी, क्या मैं नहीं समझता ? मैं सब समझता हूँ।—पर मैं करूँ तो क्या करूँ ठाकुर ? चारा ही क्या है !"

रघुपति : "उसी उपाय की बात ही तो हो रही है ! उसीके लिए तो आया हूँ। चाहो तो मेरे साथ चले आओ, वरना इस बंस-वाड़ी में बैठे अपने हितैषी भैया के नाम की माला जपते रहो। लो, मैं चला।"

और रघुपति रवाना होने को उद्यत हुए। नक्षत्रराय जल्दी-जल्दी से पीछे-पीछे जाकर कहने लगे, "मैं भी चलता हूँ ठाकुर, पर दीवानजी भी चलना चाहें तो उनको साथ ले लेने में हर्ज ही क्या है ?"

रघुपति ने कहा : "मेरे सिवा और कोई साथ नही जायगा।"

नक्षत्रराय के पाँव घर छोड़कर बाहर जाने को उठते ही नही थे। सुख के ये सारे खेल छोड़कर, दीवानजी तक को छोड़कर, रघु-पति के साथ अकेले कहाँ जाना होगा ? पर रघुपति तो मानो चोटी

पकड़कर घसीट ले चले। इतना ही नहीं, नक्षत्रराय के मन में एक प्रकार का भय मिश्रित कौतूहल भी पैदा होने लगा। उसका आकर्षण भी बड़ा ज़बरदस्त होता है।

नाव तैयार थी। नदी किनारे पहुँचकर नक्षत्रराय ने देखा कि पीताम्बर कंधे पर अँगोछा डाले स्नान करने आ रहे है। नक्षत्र को देखते ही हास-विकसित मुख से पीताम्बर ने कहा, "जयतु जयतु महाराज! सुना कि क्या तो कल कोई कुलच्छन पाजी बाँभन कहाँ से तो आ धमका और शुभ विवाह में विघ्न डाल गया!"

नक्षत्रराय अस्थिर हो उठे। रघुपति ने गम्भीर स्वर में कहा, "वह पाजी बाँभन मैं ही हूँ।"

पीताम्बर हँस पड़े। बोले, "फिर तो आपके मुंह पर आपका वर्णन करना ठीक नही हुआ! पता होता तो किस पिता का पुत्र ऐसा काम करता भला? लेकिन आप इस बात का बुरा मत मानियेगा, ठाकुर। पीछे में लोग क्या-क्या नही करते हैं? मुझे तो जो लोग सामने में राजा कहते है, वही पीछे में पितुआ कहा करते हैं। मैं तो यही समझता हूँ कि किसी के सामने में कुछ न कहना ही ठीक रहता है। जानते है, असल बात क्या है? आपका चेहरा ही कुछ इतना अधिक नाराज-नाराज-सा लगता है कि पूछिये मत। ऐसा चेहरा देखकर लोग खामखाह निन्दा-प्रचार करने लगते हैं। महाराज, इतने सवेरे-सवेरे नदी किनारे कैसे?"

नक्षत्रराय कुछ-कुछ करुण स्वर में बोले, "मैं चला, दीवानजी!"

पीताम्बर : "चले? कहाँ? नये टोले के मण्डल के घर?"

नक्षत्र : "नहीं दीवानजी, मण्डल के घर नहीं। बहुत दूर जा रहा हूँ।"

पीताम्बर : "बहुत दूर? तो क्या शिकार के लिए पाइकघाटा जा रहे हैं।"

नक्षत्रराय ने रघुपति का मुंह निहारा और विषण्ण भाव से सिर झुका लिया।

रघुपति बोले, "समय निकला जा रहा है। नाव में बैठा जाय।"

पीताम्बर अत्यन्त सन्दिग्ध और क्रुद्ध भाव से ब्राह्मण को घूर कर देखा, "तुम कौन हो, हे ठाकुर? हमारे महाराज पर हुकुम चलाने आये हो?"

नक्षत्र परेशान हो उठे। पीताम्बर को एक ओर खींचकर बोले, "ये हमारे गुरु ठाकुर है।"

पीताम्बर चमक उठे, "रहें गुरु ठाकुर! गुरु ठाकुर हैं तो हमारे चण्डी-मण्डप में रहें। चावल-केले पाते रहें। आदर पाते रहें। महाराज की क्या जरूरत पड़ी है उन्हें?"

रघुपति: "समय बेकार बरबाद हो रहा है। फिर, मैं तो चला।"

पीताम्बर: "जो आज्ञा। देर करने से लाभ क्या? आप झटपट चल पड़ें। महाराज को लेकर मैं महल जा रहा हूँ।"

नक्षत्रराय रघुपति का और फिर पीताम्बर का मुंह निहारकर मृदु स्वर में बोले, "ना दीवानजी, मैं तो चला।"

पीताम्बर: "फिर तो मैं भी चला। अपने लोगबाग अपने संग ले लें। राजा जायँगे तो संग-संग दीवानजी कैसे नही जायगा?"

नक्षत्रराय कुछ बोले नहीं, बस टुकुर-टुकुर रघुपति का मुंह ताकने लगे - रघुपति ने कहा, "संग कोई नही जायेगा -"

पीताम्बर उग्र हो उठे। बोले, "देखो ठाकुर, तुम—"

नक्षत्रराय ने हड़बड़ाकर उन्हें रोका और कहा, "दीवानजी, मैं जाता हूँ, देर हो रही है।"

पीताम्बर मलिन पड़ गये और नक्षत्र का हाथ पकड़कर बोले, "देखो बाबा, मैं तुम्हें राजा तो कहता हूँ, पर प्यार करता हूँ अपनी सन्तान की तरह। मेरी अपनी कोई सन्तान नहीं। तुम्हारे ऊपर हमारा जोर नहीं चल सकता। तुम चले जा रहे हो, मैं बरजोरी पकड़के तुम्हे रख भी नही सकता। पर मेरा एक अनुरोध यह है कि

मेरे मन हे, पुण्य तीर्थ में जागो

मेरे मन हे, पुण्य तीर्थ में
जागो धीर—
इस भारत के महा-मनुज के
सागर-तीर।
यहीं खड़ा मैं बाहु बढ़ाकर
नमन करूँ नर-देव,
परमानन्द उदार छन्द में
वन्दन करूँ सदैव -
ध्यान-धीर गंभीर महीधर,
नदी-सुमिरनी जपते पांतर,
दिखता नित्य, पवित्र धरा का
श्यामल चीर
इस भारत के महा-मनुज के
सागर-तीर -

कोटि-धार दुर्वार स्रोत में
आये मनुज-समुच्चय
कहाँ-कहाँ से, किस पुकार पर ?
आकर हुए यहीं लय।
आये आर्य, द्रविड़, अनार्य, शक,
या चीनी प्राचीन,

हूण, मुग़ल, अफ़गान;—हुए सब
एक देह में लीन।
अब पछाँह ने भी खोले हैं द्वार,
सभी वहाँ से लाते हैं उपहार,
देंगे लेंगे, मिले मिलायेंगे
ज्यों नीर - क्षीर,
इस भारत में महा-मनुज के
सागर-तीर।

अभियानों में, जयगानों में,
उन्मद कोलाहल में,
मरु-पथ वन-पर्वत उलाँघ जो
आये थे इस थल में,
वे सब मुझमें आज विराजें
कोई दूर नहीं है;
मेरे लोहू में विचित्र लय
सबकी गूँज रही है।
बजो बजो तुम रुद्र-बीन हे,
जो घिन में अब भी अलग रहे,
वे आयेंगे;—ढह जायेंगे
भेदभाव - प्राचीर
इस भारत के महा-मनुज के
सागर-तीर।

तनिक थमे बिन, यहीं किसी दिन
गूँजा प्रणव महान्;
हृदय-तंत्र एकत्व-मंत्र में
रणित हुई थी तान।

तप-बल से 'एकत्व'-अनल में
कर 'बहुत्व' का होम,
भेद मिटा 'एक-ही' हृदयतल
जागा अन्तर्व्योम।
उस साधन उस आराधन का यज्ञागार
आज सभी को बुला रहा है खोले द्वार;—
सब फिर यहीं मिलेंगे नत-शिर
मिलन अधीर
इस भारत के महा-मनुज के
सागर-तीर।

आज बले उस होम-अनल में
दुख की रक्त-शिखा।
मर्म-मर्म में दहना होगा,
सहना भाग्य-लिखा!
यह दुख वहन करो मेरे मन,
सुनो 'एक'-आह्वान;
सकल लाज-भय करो करो जय,
दूर करो अपमान।
असह व्यथा का होते ही अवसान
जन्मेगा अतुलित विशाल नव प्राण!
महा-नीड़ में जाग पड़ी माँ, चलता
प्रात-समीर
इस भारत के महा-मनुज के
सागर-तीर।

आओ आर्य-अनार्य सभी,
हिन्दू-मुस्लिम-संतान,

आओ आओ अँगरेजो तुम,
आओ हे क्रिस्तान;
आओ ब्राह्मण, शुचि करके मन,
सबके हाथ गहो;
आओ पतित, न हो अपमानित,
सादर साथ रहो।
माँ का है अभिषेक, जुटो कर त्वरा
मंगल-कलसी में न अभी तक भरा
सबके छूने से पवित्र हो ढरा
तीर्थ-तर्थ का नीर
इस भारत के महा-मनुज के
सागर-तीर!

१८ आषाढ़ १३१७ बं० अनु० : २२ फाल्गुन १८८२ श०

विपदाओं से रक्षा करो, यह न मेरी प्रार्थना

विपदाओं से रक्षा करो—
यह न मेरी प्रार्थना,
यह करो : विपद् में न हो भय।
दुख से व्यथित मन को मेरे
भले न दो सांत्वना,
यह करो : दुख पर मिले विजय।
मिल सके न यदि सहारा,
अपना बल न करे किनारा;—
क्षति ही क्षति मिले जगत् में
मिले केवल वंचना,
मन में जगत् में न लगे क्षय।

करो तुम्हीं त्राण मेरा—
यह न मेरी प्रार्थना,
तरण-शक्ति रहे अनामय।
भार भले कम न करो,
भले न दो सांत्वना,
यह करो : ढो सकूं भार-चय।
सिर नवाकर झेलूंगा सुख,
पहचानूंगा तुम्हारा मुख,

मगर दुख-निशा में सारा
जग करे जब वंचना,
यह करो : तुममें न हो संशय।

१३१३ बं०　　　अनु० : २० फाल्गुन १८८२ श०

स्वादेशिकता

बाहर से देखने पर तो हमारे परिवार में अनेक विदेशी प्रथाओं का प्रचलन दिखाई पड़ता था, पर परिवार के हृदय-देश में एक दीप्त स्वादेशाभिमान स्थिर दीप्ति से बलता रहता था। स्वदेश के प्रति मेरे पितृदेव के अन्तर में एक आन्तरिक श्रद्धा थी, जो उनके जीवन के सभी प्रकार के विप्लवों में भी अक्षुण्ण रही। उसी श्रद्धा ने हमारे परिवार के सभी लोगों में एक प्रबल स्वदेशप्रेम का संचार कर रखा था। सच पूछिये तो वह समय देशभक्ति का समय नहीं था। उन दिनों के शिक्षित वर्ग के लोग देश की भाषा और देश के भाव, दोनों ही को अपने से दूर ही दूर रखा करते थे। मेरे घर में मेरे बड़े भाई लोग सदा से मातृभाषा की चर्चा करते आये हैं। मेरे पिता के किसी निकट सम्बन्धी ने उन्हें अँगरेजी में पत्र लिखा था। वह पत्र तत्काल ही लिखनेवाले के पास लौटा दिया गया था।

हमारे घरवालों की सहायता से ही 'हिन्दू मेला' नाम का एक मेला लगने लगा था। इस मेले के कार्यकर्त्ता के रूप में श्री नवगोपाल मित्र महाशय नियुक्त हुए थे। भारतवर्ष को स्वदेश मानकर भक्ति के साथ उसकी मानसिक उपलब्धि का वही सर्वप्रथम प्रयास था। मँझले भैया ने उन्हीं दिनों 'मिलकर सब भारत-संतान' नामक विख्यात राष्ट्रीय संगीत की रचना की थी। इस मेले में देश की स्तुति के गीत गाये जाते थे, देश के प्रति अनुराग की कविताएँ पढ़ी जाती थीं, स्वदेशी शिल्प और स्वदेशी व्यायाम आदि प्रदर्शित किये जाते थे और देश के गुणी जनों को पुरस्कार दिये जाते थे।

लॉर्ड करजन के जमाने में दिल्ली-दरबार के सम्बन्ध में मैंने एक

गद्य-प्रबन्ध लिखा था और लॉर्ड लिटन के जमाने में एक पद्य-प्रबन्ध। उस समय की अंगरेजी सरकार रूस से बुरी तरह डरी रहती थी, पर चौदह-पंदरह बरस के बालक-कवि की लेखनी से ज़रा भी नही डरती थी। तभी तो उस काव्य में किशोर-सुलभ उत्तेजना के भरपूर परिमाण में मौजूद रहने के बावजूद उन दिनों के प्रधान सेनापति से लेकर पुलिस अधिकारियों तक कोई भी तिल-भर विचलित नहीं हुआ। कम-से-कम, विचलित होने का कोई लक्षण तो प्रगट नहीं ही हुआ। न ही 'टाइम्स' पत्र के किसी पत्र-लेखक ने इस बालक की धृष्टता के प्रति शासकों की उदासीनता का उल्लेख करके ब्रिटिश राज के स्थायी होने के सम्बन्ध में गम्भीर निराशा प्रगट करके अत्यन्त उष्ण दीर्घ- निश्वास लिया! वह कविता मैंने सुनायी थी 'हिन्दू-मेला' में एक पेड़ तले खड़े होकर। श्रोताओं में श्री नवीन सेन महाशय भी उपस्थित थे। मेरे बड़े होने पर उन्होंने एक दिन यह बात मुझे याद दिला दी थी।

ज्योति भैया के उद्यम से हमारी एक सभा बनी थी। वृद्ध राजनारायण बाबू उसके सभापति थे। यह सभा देशभक्तों की सभा थी। कलकत्ता नगरी की एक गली में एक उजाड़ मकान में हमारी बैठकें हुआ करती थी। सभा के सभी अनुष्ठान रहस्य में आवृत हुआ करते थे। सच पूछिये तो उस सभा में अगर कोई भयंकर बात थी तो एकमात्र यह गोपनीयता ही थी। हमारे व्यवहार-बरताव में ऐसी कोई भी बात नही थी, जो राजा या प्रजा के भय का विषय बन सकती। पर यह बात हमारे परिवारों के लोगों को भी मालूम नही होती कि दोपहर के समय हम कहाँ क्या करने जा रहे हैं। हमारे दरवाज़े बन्द रहते थे, हमारे घर में अँधेरा रहता था, हमारी दीक्षा ऋग्वेद की ऋचा से होती थी और हमारी बातचीत बिलकुल चुप-चुप हुआ करती थी। इतने ही से हम सभी का रोम-हर्षण होता था, इससे अधिक और किसी बात की हमें कोई ज़रूरत ही नही थी। मेरे जैसा 'अर्वाचीन' भी इस सभा का सदस्य था। उस सभा के हम

लोग एक ऐसे बावलेपन की तप्त वायु में रहा करते थे कि आठों पहर उत्साह के मारे मानो उड़े ही फिरते थे। लज्जा, भय, संकोच आदि कुछ भी हमारे पास तक फटकने नहीं पाता था। उस सभा के हम सदस्यों का प्रधान कार्य था उत्तेजना की आग सेंकना। वीरता ऐसी चीज है जो कहीं सुविधाजनक होती है तो कहीं असुविधाजनक भी हो सकती है। लेकिन उसके प्रति मनुष्य की एक गम्भीर श्रद्धा रहती है। उस श्रद्धा को जाग्रत रखने के लिए सभी देशों के साहित्य में प्रचुर सामग्री परोसने का आयोजन देखा जा सकता है। यही कारण है कि मनुष्य चाहे किसी भी अवस्था में क्यों न रहे, उसके मन में इसका आवेग उठे बिना नहीं रह सकता। हमने सभाएँ करके, कल्पनाएँ करके, आपसी बातचीत करके, गीत गाकर, उस आवेग को झेलने का प्रयास किया। इस बारे में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि जो चीज मानव की प्रकृति का अंग होती है, जो सदा से मनुष्य के लिए आदरणीय रही है और रहेगी, उसके सभी रास्ते रूँध देने पर, उसके सभी अवकाश बन्द कर देने पर एक विषम विकार की सृष्टि होती है। किसी बहुत बड़ी राज्य-व्यवस्था में अगर सिर्फ किरानी-गिरी की राह खुली रखी जाय तो मानव-चरित्र की विचित्र शक्ति अपनी स्वाभाविक स्वस्थ अभिव्यक्ति के क्षेत्र से वंचित रह जाती है। राज्य में वीर-धर्म के लिए भी गुंजायश रहनी चाहिए, नहीं तो मानव-धर्म को पीड़ा होती है। उस गुंजायश के न रहने पर केवल गुप्त उत्तेजना अन्तःशीला होकर भीतर-ही-भीतर बहती रहती है और ऐसी अवस्था में उसकी गति अत्यन्त अद्‌भुत तथा उसका परिणाम अ-पूर्व-कल्पनीय होता है। मेरा विश्वास है कि उन दिनों सरकार का सन्देह यदि अत्यन्त भीषण हो उठता, तो हमारी उस सभा के बालक जिस वीरत्व के प्रहसन मात्र का अभिनय कर रहे थे, वह कठोर ट्रेजेडी में परिणत हो सकता था। अभिनय पूर्ण हो गया और फिर भी फ़ोर्ट विलियम की एक भी ईंट नहीं खिसकी और इसीलिए आज हम इस स्थिति में हैं कि उस पुरानी स्मृति की चर्चा

और आलोचना करके हँस सकें।

भारतवर्ष के सभी लोगों का आम पहनावा क्या हो सकता है? यह एक प्रश्न था जिस पर ज्योति भैया ने बहुत सिर खपाया। उन्होंने प्रस्तावित पहनावे का एक पर एक नमूना हमारी सभा में उपस्थित करना शुरू किया। धोती कर्म-क्षेत्र के लिए उपयोगी नहीं मानी गयी और पाजामा विजातीय समझा गया। इसलिए उन्होंने दोनों में एक ऐसा समझौता कराने की कोशिश शुरू की, जिससे धोती भी क्षुण्ण हो गयी और पाजामा भी प्रसन्न नहीं हो सका। अर्थात्, उन्होंने पाजामा तो रहने दिया, पर उसके ऊपर से एक टुकड़ा कपड़ा तहिया कर एक स्वतन्त्र कृत्रिम कोंचा जोड़ दिया। सोला-टोप और पगड़ी के मिश्रण से भी एक ऐसा पदार्थ तैयार हुआ, जिसे अत्यन्त उत्साही लोग भी अपने शिरोभूषण के रूप में मान्यता देने को तैयार नहीं हो सकते। 'सर्वजनीन' पहनावे के ऐसे नमूनों को सर्व-जन द्वारा ग्रहण किये जाने के पूर्व ही अकेले स्वयं व्यवहार में ला पाना जिस-तिस के बस की बात नहीं। परन्तु ज्योति भैया ऐसे कपड़े को पहनकर मध्याह्न के प्रखर आलोक में गाड़ी पर सवार हो जाते और अम्लान-वदन निकल पड़ते। अपने सम्बन्धी और अपने बन्धु-बान्धव, दरबान और कोचवान, सभी अवाक् होकर मुँह बाये ताकते रह जाते, परन्तु भैया भ्रूक्षेप तक नहीं करते। देश के लिए अकातर भाव से प्राण दे सकने वाले वीर-पुरुष तो अनेक हो सकते हैं, परन्तु देश के मंगल के लिए ऐसे 'सर्वजनीन' पहनावे पहनकर कलकत्ता की सड़कों पर इस तरह प्रदर्शन कर सकनेवाले लोग बिरले ही होंगे, यह निश्चित है।

प्रत्येक रविवार को ज्योति भैया दल-बल लेकर शिकार करने निकला करते थे। हमारे इस शिकारी-दल में रवाहूत-अनाहूत लोग आ जुड़ते, उनमें से अधिकतर ऐसे होते, जिन्हें हममें से कोई भी पहचानता नहीं होता। उनमें बढ़ई-लुहार आदि सभी श्रेणियों के लोग होते। हमारे इन शिकार-अभियानों में रक्तपात का कार्यक्रम

ही सबसे नगण्य होता। कम-से-कम मुझे तो ऐसी कोई घटना याद नहीं आती, जिसमें कोई पशु-पक्षी मारा भी गया हो। शिकार के लिए और सारे आनुषंगिक अनुष्ठान ही खासी भरपूर मात्रा में होते थे। इसलिए हताहत पशु-पक्षियों का अत्यन्त तुच्छ अभाव हमें तनिक भी खल नहीं पाता था। हम भोर ही भोर निकल पड़ते थे। भाभी–बहू-ठकुरानी–ढेर की ढेर पूड़ी-तरकारी तैयार करके साथ कर दिया करती थीं। चूंकि पूड़ी-तरकारी शिकार करके जुटानी नहीं पड़ती थी;—इसलिए हमें एक दिन भी उपवास नहीं करना पड़ा।

माणिकतल्ला में परित्यक्त उद्यानों की कोई कमी नहीं थी। हम किसी भी एक उद्यान में घुस पड़ते थे। पोखरे के बंधे घाट पर बैठ-कर ऊँच-नीच का विचार किये बिना ही सभी शिकारी एकसाथ पूड़ी-तरकारी पर टूट पड़ते थे और पल भर में केवल पात्र भर ही बचा रह जाता था।

हम अहिंसक शिकारियों में ब्रज बाबू भी एक प्रधान उत्साही थे। वह मेट्रोपोलिटन कालेज के सुपरिनटेंडेंट थे और कुछ दिन हमारे घर में शिक्षक रह चुके थे। एक दिन शिकार से लौटते हुए वह एक बाग में घुस पड़े और घुसते ही माली को पुकार-कर कहा: "अरे, इस बीच मामा बाग़ में आये थे क्या?" माली ने हड़बड़ा कर उन्हें प्रणाम किया और कहा, "जी नहीं, बाबू तो नहीं आया।" ब्रज बाबू बोले, "अच्छा, डाभ तोड़ ला।" उस दिन पूड़ी के बाद पेय का अभाव नहीं हुआ।

हमारे दल में एक मध्यवित्त जमींदार थे। वह निष्ठावान हिन्दू थे। गंगा किनारे पर उनका एक बाग़ था। वहाँ जाकर हमारे दल के सभी सदस्यों ने एक दिन जाति-वर्ण-भेद का कोई विचार किये बिना ही सह-भोजन किया। तीसरे पहर भयंकर आंधी आयी। आंधी में ही हमने गंगा-तट पर खड़े होकर चिल्लाहट के स्वर में गाना शुरू कर दिया। राजनारायण बाबू के गले में संगीत के सातों सुर खासे विशुद्ध तो नहीं लगते थे, पर उन्होंने भी गला फाड़-फाड़कर उन्मुक्त मन से

गाया। और जिस प्रकार सूत्र की अपेक्षा भाष्य कई-गुना अधिक हुआ करता है, उसी प्रकार उनके उत्साह-पूर्ण तुमुल हाथ-संचालन ने उनके क्षीण कण्ठ को बहुत दूर तक बिखेर दिया। ताल-ताल के झोंके पर ज़ोर-ज़ोर से सिर हिलाने लगे और आँधी के झोंके उनकी पकी दाढ़ी से मस्ती करने लगे। बड़ी रात गये हम भाड़े की घोड़ा-गाड़ी लेकर घर लौटे। तब तक आँधी-पानी थम गया था, बादल छँट गये थे और तारे छिटक आये थे। अंधकार काफ़ी निविड़ था, आकाश निस्तब्ध था, देहाती रास्ता निर्जन था और दोनों ओर की वनराजि में केवल दल के दल जुगनू अशब्द मौन में आग के मुट्ठी-मुट्ठी भर प्रसाद लुटा रहे थे।

हमारी सभा के उद्देश्यों में एक यह भी था कि हम अपने देश में दियासलाई आदि के कारख़ाने स्थापित करें। इसके लिए सभा के सदस्य अपनी-अपनी आय का दशमांश सभा को दान करते थे। दियासलाई के लिए तीलियों की लकड़ी का मिलना कठिन था। यह तो सभी जानते हैं कि अपने देश में बढ़नी की तीलियों से भी सधे हाथ प्रचुर परिमाण में सस्ता और तेज प्रकाश प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन उस तेज में जो चीज जलती है, वह दियासलाई तो किसी भी तरह नहीं हो सकता। अनेक परीक्षणों के बाद कुछेक डिबियाँ दियासलाई की तैयार हुईं। उनकी मूल्यवत्ता केवल इतनी ही नहीं थी कि वे भारत-सन्तानों के उत्साह के निदर्शन थी। यों भी उनका मूल्य कम नहीं पड़ता था। हमारी एक डिबिया पर जितना खर्च बैठने लगा था, उतने में एक गाँव के सारे चूल्हे पूरे साल भर सुलगाये जा सकते थे। एक और सामान्य-सी असुविधा यह हुई थी कि हमारी दियासलाई की तीलियों को तब तक बाल लेना कोई सहज नहीं था, जब तक कि पास में अग्निशिखा भी पहले से मौजूद न हो। देश के प्रति ज्वलन्त अनुराग के प्रताप से यदि उन तीलियों की ज्वलनशीलता बढ़ पाती तो आज तक हमारी दियासलाइयाँ बाज़ार में धड़ल्ले से चल रही होतीं।

ख़बर मिली कि कोई अल्पवयस्क छात्र कपड़ा बुनने की कल

बनाने की धुन में है। हम उसकी कल देखने गये। हममें से किसी में यह समझने की जरा भी सूझ-बूझ नहीं थी कि जो कल बनायी जा रही है, वह काम की चीज होगी भी या नहीं। लेकिन विश्वास करने और आशा करने की क्षमता में हम किसी से भी उन्नीस नहीं थे। कल बनाने के सिलसिले में उस छात्र को जो खर्चा पड़ा था, उसके लिए उसके ऊपर कुछ देना हो गया था। हमने उसका ऋणशोध कर दिया। अन्त में एक दिन देखा कि व्रज बाबू सिर में एक अँगोछा लपेटे हुए जोड़ासाँको के हमारे घर पर हाजिर हुए और कहने लगे कि "अँगोछे का यह टुकड़ा हमारी अपनी कल पर तैयार हुआ है!" वाक्य पूरा होते ही वे दोनों हाथ ऊपर उठाकर ताण्डव की गति में बेतहाशा नाचने लगे। उस समय व्रज बाबू के सिर के बाल पकने लग पड़े थे।

अन्त में एकाध सुबुद्धि-सम्पन्न सज्जन भी हमारे दल में आ मिले थे। उन्होंने हमें ज्ञान-वृक्ष का फल खिलाया और इस प्रकार हमारा वह स्वर्ग-लोक टूट-फूटकर मिट-मिटा गया।

राजनारायण बाबू से हमारा परिचय बचपन में ही हो गया था। लेकिन तब उनके सभी पहलुओं को समझने की शक्ति हममें नहीं थी। उनके अन्दर नाना भाँति के परस्पर-विरोधी तत्वों का समावेश घटित हुआ था। उनकी दाढ़ी-मूँछ और उनके सिर के बाल तो तभी लगभग सारे के सारे पक चुके थे, लेकिन उम्र के लिहाज से हमारे दल में जो सदस्य सबसे छोटा था, उसके साथ भी उनका कोई वयो-भेद नहीं था! उनकी बाहरी प्रवीणता शुभ्र पुड़िया की तरह उनके अन्तर की नवीनता को लपेट कर उसे चिर-काल के लिए ताजा बनाये रहती थी। इतना ही नहीं, उनका प्रगाढ पाण्डित्य भी उन्हें कोई क्षति नहीं पहुँचा सका था। वह बिलकुल सहज-मानव जैसे थे। जीवन की अन्तिम घड़ी तक भी उनका अजस्र हासोच्छ्वास किसी प्रकार की बाधा से बाधित नहीं हो सका। न आयु, न गम्भीरता, न अस्वस्थता, न संसार के दुःख-कष्ट, न मेधया न बहुना श्रुतेन—गरज

यह कि कोई भी चीज इतनी समर्थ नहीं थी कि उनकी हँसी के वेग को लगाम लगा पाती। एक ओर तो उन्होंने अपने जीवन और अपने संसार का सम्पूर्ण रूप से ईश्वरार्पण कर दिया था और दूसरी ओर वह देश की उन्नति के लिए हर घड़ी ऐसी कितनी ही साध्य-असाध्य योजनाएँ बनाने में लगे रहते थे, जिनका कहीं कोई अन्त ही नहीं था। वह रिचार्डसन के प्रिय शिष्य थे और बचपन से ही अँगरेजी विद्या के आँचल तले ही पाले-पोसे गये थे। फिर भी अनभ्यास की सारी बाधाओं को ठुकराकर उन्होंने बँगला भाषा और साहित्य के गर्भ में पूर्ण उत्साह और श्रद्धा के साथ प्रवेश किया था। हाड़-मांस के मनुष्य की सारी विशेषताओं से युक्त होते हुए भी उनका तेज उनके अणु-अणु में व्याप्त था। देश के प्रति उनका जो प्रबल अनुराग था, वह उसी तेज से निर्मित था। वह देश की समस्त खर्वता, दीनता और अपमान को जलाकर भस्म कर डालना चाहते थे। उनकी आँखें अंगारों की तरह जलती रहती थीं, उनका हृदय दीप्त हो-हो उठता था और वह उत्साह के साथ हाथ भाँज-भाँजकर हमारे साथ देश-प्रेम के गीत गाया करते थे। गला सुर में है या बेसुरा, इसकी कोई परवाह ही नहीं करते थे। हमारा गीत था :

"बद्ध एक सूत्र में सहस्र प्राण-मन,
एक लक्ष्य को सहस्र जीवनार्पण !"

इसमें सन्देह नहीं कि इस भगवद्भक्त चिर-बालक के तेजः-प्रदीप्त, हास-मधुर जीवन की याद, रोग-शोक में अमलिन उनकी पवित्र नवीनता की याद, अपने देश के स्मृति-भाण्डार में समादर-पूर्वक सुरक्षित रखने की सामग्री है।

अनु० : २७ चैत्र १८८३ श०

कितने अनजानों को पहचनवाया तुमने

कितने अनजानों को पहचनवाया तुमने
कितने घरों में जगह दिलवाई !—
दूर-दूर को कितना निकट बनाया तुमने,
बंधु रे, निपट परायों को बनवाया भाई !

छोड़ पुराना वास कभी जो चलता हूँ,
'अब क्या होगा' इसी सोच में घुलता हूँ;
हर नये में तुम पुराने तो हुई हो पर मैं
भूल-भूल जाता हूँ यह सचाई।
दूर-दूर को कितना निकट बनाया तुमने,
निपट परायों को बनवाया भाई !

जीवन में कि मरण में, निखिल भुवन में
जहां कहीं हो आलय,
जनम-जनम के परिचयवाले हे परिचित तुम
करवा ही दोगे जन-जन मे परिचय।

तुम्हें जान लेने पर ग़ैर न कोई,
मना नही कुछ, डर या वैर न कोई,

'सबको मिला जगे हो' यह बानक सदैव हो
मुझे, बन्धु रे, पड़ती रहे दिखाई।
दूर-दूर को कितना निकट बनाया तुमने,
निपट परायों को बनवाया भाई।

१३१३ बं०   अनु० २० फाल्गुन १८८२ श०

सभी कहीं मेरा घर है

सभी कही मेरा घर है; मैं
खोज वही घर लूंगा।
देश-देश में देश है अपना,
उसको लड़कर लूंगा।
मैं परदेसी, जाता हूँ जिस द्वार,
वही महल में मेरा ठौर उदार,
'पैठ किधर से हो'—चिंता बेक़ार,
पग भीतर धर लूंगा।
परम सगे घर-घर है, उनकी टोह
मैं जी-मर कर लूंगा।

नव वसंत, अंतर रह-रहकर
फूल-सुगंध गगन में
मिलन-विहीन बिलखता फिरता
है शुभ मिलन-लगन में।
चारदिवारी के भीतर जो अपने,
पुरे न उनसे अपनापे के सपने,
जगा रखी है सघन रात-दिन सब ने
विरह-वेदना मन में।
आस-पास जो हैं, उनको ही खोकर
फिरें प्राण त्रिभुवन में।

तृण-पुलकित धरती यह, मेरे
आगे लोट रही है।
यह क्यों मुझको यों पुकारती
कहना सहज नहीं है।
लगता है मानो मैं इसकी धूल में
युग-युग था, तृण में, जल में, फल-फूल में,
खोल द्वार, जाने कब, किसछल, भूल में
निकला, सुध न यही है।
वही मूक मिट्टी मेरा मुँह ताकती
पग में लोट रही है।

कैसा तो यह गगन निशा का
मेरे मुंह को जोहता!
लाखों योजन दूर सितारे
जानें मेरा नाम-पता!
जिस भाषा में उनकी कानाफूसी हो,
क्या मजाल जो मुझको उसकी बू भी हो,
चिर-बिसरी वह बोली, मानो रूठी हो,
देती कोई भेद बता!
आदि उषा का 'बंधु' बँधी टक
से मेरा मुंह जोहता।

यह सतमहला मेरा अपना
जनम-जनम की डीह पर;
जल में, थल में लाखों बंधन
पोरों-पोर बँधे कसकर।
फिर भी हाथ, भूलता बारंबार,
दूर भटक करना चाहूँ घर-बार;—

19

रचूं नीड़, लेकिन न सकूं निर्धार
नीड़-वासना का उत्तर।
हा, क्यों परदेशी वन आता
जनम-जनम की डीह पर।

चीन्ह सकूं, यदि जान सकूं तो
रज-कण भी लगता सगा।
छोटे-बड़े सभी के भीतर
अपना मन रहता पगा।
होऊँ मिट्टी या होऊँ जल,
होऊँ तिनका, जीव, फूल, फल;
कुछ न मुझे परवाह, स्नेह-बल
चिन्ताएँ देगा भगा।
जाऊँ कहीं अनंत डोर से
बँधा मिलेगा बंधु सगा।

चारों ओर विशाल विश्व यह,—
कण-कण मुझको खीचता।
सारा जगत् द्वार खुलवाता,
मुझे प्यार से सीचता।
हे माटी, मुझसे यह कैसी लगन ?
जल, मेरे ही लिए बढ़े भुज सघन ?
पैठ साँस में, अंतस्तल में पवन
चिर-आह्वान उलीचता।
मानूं जिसे पराया, वही स-नेह
पल-पल मुझको खीचता।

है है, कण-कण लगन-लगन है,
है आनद सभी जगह।
लघुतम कण की लघुता मिथ्या,
रे मन, उसको तुच्छ न कह।
जग का रेणु-रेणु अणु-अणु भव,
सब अपने में निश्चल नीरव
वहन कर रहे हैं चिर-गौरव;
यदि न सीख लो बात यह,
तो भयभीत मरण-जीवन मे
परदेसी बन फिरता रह।

धूल संग बन धूल रहूँगा
उस गौरव के चरण में
और फूल में पँखुड़ी बनकर
उसके पूजा-वरण में।
जाऊँ कहीं, कही देखूं, पर
तिल भर ठौर न उसके बाहर;
कहीं नही परदेस, न पर-घर,
जनम-जनम या मरण में।
कुछ भी होऊँ क्यों न, रहूँगा
उस गौरव के चरण में।

धन्य धन्य रे मैं अनंत युग,
धन्य धन्य मेरी धरणी।
धन्य धन्य मिट्टी, सुदूर
तारका धन्य काचन-वरणी।
कही क्यों न हूँ, मैं हूँ उसके द्वार,
पता नहीं क्या 'त्राण', कहाँ 'उस-पार',

सभी कहीं उसका ही पारावार,
जिसमें विपुल भुवन-तरणी।
जो भी हुआ, सुवन्य हुआ हूँ,
धन्य-धन्य मेरी धरणी।

३ फाल्गुन १३०७ बं० अनु० : २१ फाल्गुन १८८२ श०

अगर तेरी पुकार पर

अगर तेरी पुकार पर न कोई भी आये
तो तू अकेला चल रे !
अकेला चल, अकेला चल, अकेला चल रे ।
अगर कोई न करे बात
अरे-ओ रे अभागे,
अगर सभी रहें मुँह फेरे, डर से कँपें गात
तो फिर प्राणों को खोल
अरे-ओ मुँह को खोल मन की बात अकेला कह,
अकेला चल रे ।।
अगर लौट जायें सभी
अरे-ओ रे अभागे,
अगर गहन पंथ पर देखें तक न मुड़ कभी —
तो फिर कुश-कांटों को
अरे ओ लहूलुहान तलवों से
अकेला दल रे ।।
अगर दीया न जले
अरे-ओ अभागे,
अगर आँधी-पानी अँधियारी रातोंमें
घर-घर पट बन्द-बन्द मिलें—
तो फिर वज्र-अग्नि में
अपनी पसलियों को सुलगा कर
अकेला जल रे ।।

अनु० : १८ फाल्गुन १८८२ श०

दूर वहाँ पोखर के तट पर

दूर वहाँ पोखर के तट पर
जीयन की चौवाड़ लगाकर
माँ, हम तुम वनवास करेंगे,
होगा कहीं न कोई।
वहीं जुटा कर झाऊ-सरपत
कुटी रचेंगे, डाल फूस-छत,
सूखे पात बिछा तू मुझको
लिये रहेगी खोई।
वन में रीछ-बाघ बहुतेरे,
आ पायेंगे पास न तेरे,
कमर कसे मैं पहरा दूंगा
खड़ा-खड़ा दिन-रात।
राक्षस हर झाड़ी-झुरमुट से
झाँकेंगे, लेकिन फिर खुद्-से
छिप जायेंगे देख मुझे, ले
तीर-धनुष तैनात।
ज्यों ही द्वार खड़ी होगी तू
लिए खील भर-आँचल,
त्यों ही वन के हिरन दौड़ते
आयेंगे दल के दल।
आँके-बाँके सींगोंवाले,
कबरे चित्तल, काले-काले

लोट पड़ेंगे मत्र जमीनपर
आ पैरों के पास।
मुझसे उनका गाढ़ा परिचय,
मुझसे उनको तनिक नही भय,
सहलाऊँगा उन्हें, खिलाकर
कोमल-कोमल घास।
उमड़ेंगे जब मेघ सघन बन
फल से लाद फालसे का वन,
मोर हमारी कुटिया पर ही
नाच दिखा जायेंगे।
मैना किचकिच शोर मचाये
झूठ-मूठ को पूंछ उठाये
गिलहरियों के दल हाथों से
धान बीन खायेंगे।

अनु० : १६ फाल्गुन १८८२ श०

अनधिकार प्रवेश

एक दिन प्रातःकाल की बात है कि दो बालक राह-किनारे खड़े तर्क कर रहे थे। एक बालक ने दूसरे बालक से विषम-साहस के एक काम के बारे में बाज़ी बदी थी। विवाद का विषय यह था कि ठाकुरबाड़ी के माधवी-लता-कुञ्ज से फूल तोड़ लाना संभव है कि नहीं। एक बालक ने कहा कि 'मैं तो जरूर ला सकता हूँ' और दूसरे बालक का कहना था कि 'तुम हरगिज नहीं ला सकते!'

सुनने में तो यह काम बड़ा ही सहज-सरल जान पड़ता है। फिर क्या बात थी कि करने में यह काम उतना सरल नहीं था? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए आवश्यक है कि इससे सम्बन्धित वृत्तान्त का विवरण कुछ और विस्तार के साथ प्रस्तुत किया जाय।

मन्दिर राधानाथ जी का था और उसकी अधिकारिणी स्वर्गीय माधवचन्द्र तर्कवाचस्पति की विधवा पत्नी जयकाली देवी थी।

जयकाली का आकार दीर्घ, शरीर दृढ़, नासिका तीक्ष्ण और बुद्धि प्रखर थी। उनके पति-देव के जीवन-काल में एक बार परिस्थिति ऐसी हो गयी थी कि इस देवोत्तर सम्पत्ति के नष्ट हो जाने की आशंका उत्पन्न हो गयी थी। उस समय जयकाली ने सारा बाक़ी-बकाया देना अदा करके, हद-चौहद्दी पक्की करके और लम्बे अरसे से बेदखल जायदाद को दखल-क़बज़े में ला करके सारा मामला साफ़-सूफ़ कर दिया था। किसीकी यह मजाल नहीं थी कि जयकाली को उनके प्राप्य धन की एक कानी कौड़ी से भी वंचित कर सके।

स्त्री होने पर भी उनकी प्रकृति में पौरुष का अंश इतने प्रचुर परिमाण में था कि उनका यथार्थ संगी कोई भी नहीं हो सका था।

स्त्रियाँ उनसे भय खाती थीं। पर-निन्दा, ओछी बात, रोना-धोना या नाक बजाना उन्हें तनिक भी सहन नहीं होता था। पुरुष भी उनसे डरे-डरे रहते थे। कारण यह था कि चण्डी-मण्डप की बैठक-बाजी में ग्रामवासी भद्र-पुरुषों का जो अगाध आलस्य व्यक्त होता था, उसे वह एक प्रकार के नीरव घृणापूर्ण तीक्ष्ण कटाक्ष से कुछ इतना धिक्कार सकती थी कि उनका धिक्कार आलसियों की स्थूल जड़ता को भेदकर सीधे अन्तर में उतर पड़ता था।

प्रबल घृणा करने एवं उस घृणा को प्रबलता-पूर्वक प्रगट करने की असाधारण क्षमता इस प्रौढ़ा विधवा में थी। विचार-निर्णय से जिसे अपराधी मान लेतीं, उसे वाणी और मौन से, भाव और भंगिमा से बिलकुल ही जलाकर भस्म कर डालना ही उनका स्वभाव था।

उनके हाथ गाँव के समस्त हर्ष-विषाद में, आपद्-सम्पद् में और क्रिया-कर्म में निरलस रूप से व्यस्त रहते थे। हर कहीं अति-सहज भाव से और अनायास ही अपने लिए गौरव का स्थान अधिकार कर लिया करती थीं। जहाँ कहीं भी वह उपस्थित होतीं वहाँ उनके अपने अथवा किसी अन्य उपस्थित व्यक्ति के मन में इस सम्बन्ध में रत्ती भर भी सन्देह नहीं रहता था कि सबके प्रधान के पद पर तो वही है।

रोगी की सेवा में वह सिद्धहस्त थी, पर रोगी उनसे इतना भय खाता कि कोई यम से भी क्या डरेगा! पथ्य या नियम का लेश-मात्र भी उल्लंघन होने पर उनका क्रोधानल रोगी को रोग के ताप की अपेक्षा भी कहीं अधिक उत्तप्त कर डालता था।

यह दीर्घाकृति कठिन-स्वभाव विधवा गाँव के मस्तक पर विधाता के कठोर नियम-दण्ड की भाँति सदा उद्यत रहती थीं। किसी को भी यह साहस नहीं हो सकता था कि वह उन्हें प्यार करे अथवा उनकी अवहेलना करे।

विधवा निस्सन्तान थी। उनके घर में उनके दो मातृ-पितृहीन भतीजे पाले-पोसे जा रहे थे। यह तो कोई नहीं कह सकता था कि पुरुष अभिभावक के अभाव में इन बालकों पर किसी प्रकार का

शासन नही था अथवा स्नेहान्ध फूफी-माँ के लाड़-दुलार के कारण वे बिगड़े जा रहे थे। बड़ा भतीजा अठारह वर्ष का हो गया था। जब-तब उसके विवाह के प्रस्ताव भी आने लगे थे। परिणय-बन्धन के सम्बन्ध में उस बालक का अपना चित्त भी कोई उदासीन नही था। परन्तु फूफी-माँ ने उसकी इस सुख-वासना को एक दिन के लिए भी कोई प्रश्रय नही दिया। वह कठिन हृदयतापूर्वक कहती कि नलिन पहले उपार्जन करना आरम्भ कर ले तो पीछे घर में बहू लायेगा। फूफी-माँ के मुख से निकले इस कठोर वाक्य से पडोसिनों के हृदय विदीर्ण हो जाते।

ठाकुरवाड़ी जयकाली का सबसे अधिक प्यारा धन था। उसके लिए उनके यत्नों का कोई अन्त न था। ठाकुरजी के सेवन, मज्जन-अशन-वसन-शयन आदि में तिल भर त्रुटि भी कदापि नही हो सकती थी। पूजा-कार्य में नियुक्त दोनों ब्राह्मण देवता की अपेक्षा इस एक मानवी ठकुरानी से कही अधिक भयभीत रहते थे। पहले एक समय ऐसा भी था कि देवता के नाम पर उत्सर्ग किया हुआ पूरा नैवेद्य देवता को मिल नहीं पाता था। परन्तु जयकाली के शासन-काल में पुजापे के शत-प्रतिशत अंश ठाकुरजी के भोग में ही लगते थे।

विधवा के यत्न से ठाकुरवाड़ी का प्राङ्गण स्वच्छता के मारे चमचमाता रहता था। कही एक तिनका तक भी पड़ा नही पाया जा सकता था। एक पार्श्व में मंच का अवलम्बन करके माधवी-लता का वितान फैला था। उसके किसी शुष्क पत्र के झरते ही जयकाली उसे उठाकर बाहर डाल आती थी। ठाकुरवाड़ी की परम्परागत परिपाटी से परखी जानेवाली परिच्छन्नता एवं पवित्रता में रंच मात्र का व्यांघात भी विधवा के लिए नितान्त असहनीय था। पहले तो टोले के लड़के लुका-छिपी खेलने के उपलक्ष में इस प्राङ्गण में प्रवेश करके इसके किसी प्रान्त-भाग में आश्रय ग्रहण किया करते थे और कभी-कभी टोले की बकरियों के पठरू भी पैठ कर माधवी लता के वल्कलांश का थोड़ा-बहुत भक्षण कर जाया करते थे। परन्तु जयकाली के काल

में न तो लड़कों को वह सुयोग मिल पाता और न छागल-शिशुओं को ही। पर्व-दिवसों के अतिरिक्त कभी भी बालकों को मन्दिर के प्राङ्गण में प्रवेश का अवसर नहीं मिल पाता था और छागल-शिशु भी दण्ड-प्रहार का आघात मात्र खाकर सिंहद्वार के पास से ही तीव्र स्वरों में अपनी अजा-जननी का आह्वान करते हुए लौट जाने को विवश हो जाते थे।

परम-आत्मीय व्यक्ति भी यदि अनाचारी हो तो उसे देवालय के प्राङ्गण में प्रवेश करने के अधिकार से सर्वथा वंचित रहना पड़ता था। जयकाली के एक बावरची-कर-पक्व-कुक्कुट-मांस-लोलुप भगिनी-पति महोदय आत्मीय-सन्दर्शन के उपलक्ष में ग्राम में उपस्थित होकर मन्दिर के प्राङ्गण में प्रवेश का उपक्रम कर रहे थे कि जयकाली ने शीघ्रता-पूर्वक तीव्र आपत्ति प्रकट की थी, जिसके कारण उनके लिए अपनी सहोदरा भगिनी तक से सम्बन्ध-विच्छेद की सम्भावना उपस्थित हो गयी थी। इस देवालय के सम्बन्ध में विधवा की इतनी अतिरिक्त एवं अनावश्यक सतर्कता थी कि सर्वसाधारण के निकट तो वह बहुत-कुछ आडम्बर-सी प्रतीत होती थी।

अन्यत्र तो जयकाली सर्वत्र ही कठिन-कठोर थीं, उन्नत-मस्तक थीं, स्वतन्त्र-निर्बन्ध थीं, परन्तु केवल इस मन्दिर के सम्मुख उन्होंने सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर दिया था। मन्दिर में प्रतिष्ठित विग्रह के प्रति वह एकान्त-भाव से जननी, पत्नी, दासी आदि सब-कुछ थीं, उसके सम्बन्ध में वे सदैव सतर्क, सुकोमल, सुन्दर एवं सम्पूर्णतः अवनम्र थीं। प्रस्तर-निर्मित यह मन्दिर तथा इसमें प्रतिष्ठित प्रस्तर-प्रतिमा ये दो वस्तुएँ ही ऐसी थीं-जो उनके निगूढ़ नारी-स्वभाव की एकमात्र चरितार्थता के विषय थीं। यही दो वस्तुएँ उनके स्वामी और पुत्र के स्थान पर थीं, यही दो उनका समस्त संसार थी।

इसीसे पाठक समझ लेंगे कि जिस बालक ने मन्दिर-प्राङ्गण से माधवी-मंजरी का आहरण करने की प्रतिज्ञा की थी, उसका साहस भी भीम रहा होगा। वह बालक और कोई नहीं, जयकाली का

कनिष्ठ भ्रातुष्पुत्र नलिन था। वह अपनी फूफी-माँ को बड़ी भली तरह जानता था, तथापि उसकी दुर्दान्त प्रकृति किसी प्रकार के भी शासन के वशवर्ती नहीं होती थी। जहाँ कहीं भी विपद् की सम्भावना होती, वहाँ उसे एक विचित्र आकर्षण महसूस होता और जहाँ कहीं भी शासन या प्रतिबन्ध होता, वहाँ उल्लंघन करने के लिए उसका चित्त चंचल हो उठता। जनश्रुति है कि अपने बालकाल में उसकी फूफी-माँ का स्वभाव भी ठीक ऐसा ही था।

उस समय जयकाली मातृ-स्नेह-मिश्रित भक्ति-पूर्वक ठाकुरजी पर अपनी दृष्टि निबद्ध किये दालान में बैठी अनन्य-अभिनिविष्ट मन से माला जप रही थीं।

बालक पीछे से अशब्द-पदसंचार-पूर्वक आकर माधवी-लता-वितान तले खड़ा हो गया। उसने देखा कि निम्नतर शाखाओं के फूल तो पूजा के निमित्त तोड़े जाकर निश्शेष हो चुके हैं। गत्यन्तर न देख उसने अत्यन्त धीरे-धीरे और बहुत ही सावधानी-पूर्वक लता-मंच पर आरोहण किया। उच्चतर प्रशाखाओं पर विकचोन्मुख कलिकाएँ देखकर उन्हें तोड़ने के लिए ज्यों ही उसने अपने शरीर एवं बाहु को प्रसारित किया, त्यों ही उस प्रबल प्रयास के भार से माधवी-लता का जीर्ण मंच चरमर-शब्द-पूर्वक टूट पड़ा। मंचाश्रित लता एवं बालक दोनों एकत्र ही भूमिसात् हुए।

जयकाली हड़बड़ाकर दौड़ी आयीं। उन्होंने अपने भ्रातुष्पुत्र की कीर्ति का अवलोकन किया। बलपूर्वक उसकी भुजा पकड़ के उसे मिट्टी से उठाया। आघात तो उसे यथेष्ट लगा था, किन्तु उस आघात को दण्ड नहीं माना जा सकता था, क्योंकि वह तो ज्ञान-संज्ञा-हीन जड़ का आघात था। अतएव मंच-पतित बालक की व्यथित देह पर जयकाली का ज्ञान-संज्ञा-युक्त शासन-दण्ड मुहुर्मुहुः बलपूर्वक वर्षित होने लगा। बालक ने बिन्दु-मात्र भी अश्रु-पात किये बिना ही उनके दण्ड को नीरवता-पूर्वक सहन किया। इस पर उसकी फूफी-माँ ने उसे घसीट कर घर में अवरुद्ध कर दिया। उसके उस दिन के सायं-

कालिक आहार का निषेध कर दिया गया।

आहार-निषेध का समाचार सुनकर दासी मोक्षदा ने कातर कण्ठ एवं जल-छलछल नेत्र से बालक को क्षमा-दान करने का अनुरोध किया। परन्तु जयकाली का हृदय विगलित नहीं हुआ। उस घर में ऐसा दुस्साहसी व्यक्ति कोई नहीं था, जो ठकुरानी को सूचना-वंचित रखकर गुप्त रूप से उस क्षुधित बालक के लिए खाद्य की व्यवस्था कर देता।

विधवा माधवी-मंच के पुनः संस्कार के लिए श्रमिक बुलाने का आदेश देकर पुनर्वार माला लेकर दालान में आ बैठी। कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात् मोक्षदा अत्यन्त भयभीत भाव से उनके निकट गयी और बोली, "ठकुरानी-मां, छोटे बाबू भूख के मारे बिलख रहे हैं, उन्हें थोड़ा-सा दूध ला दूं?"

जयकाली ने अविचलित मुख-मुद्रा से कहा, "नहीं!" मोक्षदा लौट गयी। अदूरवर्ती कुटीर-गृह से नलिन का करुण क्रन्दन क्रम-क्रम से बढ़ता हुआ क्रोध के गर्जन के रूप में परिणत हो उठा।—पर गर्जन-पर्व भी समाप्त हुआ और अन्त में, बहुत देर के पश्चात्, उसकी कातरता का परिश्रान्त उच्छ्वास रह-रहकर जप-निरता फूफी-माँ के कर्ण-कुहरों में पहुँच-पहुँचकर ध्वनित होने लगा।

नलिन का आर्त्त कण्ठ परिश्रान्त एवं मौन-प्राय हो चला था कि किसी और निकटवर्ती जीव की भीत एवं कातर ध्वनि कर्ण-गोचर होने लगी तथा उसके सँग-सँग ही धावमान मनुष्यों का दूरवर्ती चीत्कार-शब्द उसके साथ मिश्रित होकर मन्दिर के सम्मुखवर्ती मार्ग पर एक तुमुल कोलाहल के रूप में उत्थित हो उठा।

सहसा मन्दिर-प्रांगण में कोई पद-शब्द सुनाई पड़ा। पीछे मुड़कर जयकाली ने देखा कि भू-पर्यस्त माधवी-लता आन्दोलित हो रही है।

रोष-पूर्ण कण्ठ से पुकारा, "नलिन!"

कोई उत्तर नहीं मिला। जयकाली ने समझा कि दुर्दम नलिन

किसी उपाय से बन्दीशाला से पलायन करके मुझे चिढ़ाने आया है।

यही सोचकर वह अत्यन्त कठिन मुद्रा बनाकर एवं अधर के ऊपर ओष्ठ को अत्यन्त कठिन रूप से दाबकर प्रांगण में उतर आयी।

लता-कुंज के निकट आकर पुनर्वार पुकारा, "नलिन!"

उत्तर प्राप्त नहीं हुआ। उन्होंने माधवी की शाखा को उठाकर देखा कि एक अत्यन्त ही मलिन शूकर ने प्राण-भय से भीत होकर घन-पल्लव के अन्तराल में आश्रय लिया है।

जो लता-वितान इष्टक-निर्मित प्राचीर से परिवेष्टित उस प्रांगण में वृन्दा-विपिन का संक्षिप्त प्रतिरूप हो, जिसकी विकसित कुसुम-मंजरी का सौरभ गोपिका-वृन्द के सुरभित निश्वास का स्मरण कराता रहता हो एवं कालिन्दी-तीरवर्ती सुख-विहार के सौन्दर्य-स्वप्न को जाग्रत करता रहता हो, विधवा जयकाली की उस प्राणाधिक यत्नों से लालित सुपवित्र नन्दन-भूमि में अकस्मात् यह कैसा वीभत्स काण्ड घटित हो गया!

पुजारी ब्राह्मण लाठी लेकर उस मल-मलिन पशु को भगाने दौड़ा।

जयकाली तत्क्षण नीचे उतर आयीं, पुजारी के शूकर-ताड़न कर्म का निषेध किया एवं भीतर से मन्दिर-प्रांगण का द्वार अवरुद्ध कर दिया।

अनति-काल अतिवाहित होने के पश्चात् सुरा-पान-मत्त डोम-दल मन्दिर के द्वार पर उपस्थित होकर अपने बलि-पशु के लिए चीत्कार करने लगा।

रुद्ध द्वार के पीछे खड़ी होकर जयकाली ने कहा: "लौट जाओ बेटो, लौट जाओ। मेरे मन्दिर को अपवित्र मत कर बैठना।"

डोमों का दल लौट गया। वे लोग प्रायः प्रत्यक्ष देखकर भी इस बात पर विश्वास नही कर सके कि जयकाली ठकुरानी अपने राधानाथ जी के मन्दिर में उस अशुचि जन्तु को आश्रय दे सकती हैं!

अनु०: २८ चैत्र १८८३ श०

जगती भर में उदार स्वर में गुंजित
नंदन-राग

जगती भर में उदार स्वर में
गुंजित नन्दन-राग
मानव हृदय में गंभीर लय में
कब गूँजेगा राग ?
जिस दिन सबको प्यार करेगा,
गगन पवन जल ज्योति वरेगा,
सजी साज से हृदय-सभा में वे पावेंगे मान ॥
आँखों के खुलते ही जिस दिन भाव उठेंगे प्राण,
निकल पड़ूँगा जिधर उधर सबका होगा कल्याण ?
'तू है'—यह भरोस कब मन में
सहज हो उठेगा जीवन में,
सकल कर्म में नाम बजे तेरा, कब होंगे भाग ?

अनु० : १८ फाल्गुन १८८२ श०

धीरे से वह नौ-दो-ग्यारह हो जाया करता; लेकिन
मिलता हाजिर हुक्का ले फिर सुबह-सुबह अगले ही दिन,
अति प्रसन्न-
मुख, तनिक नही दुःख, मन से तनिक नही कातर !
पीठ न मोड़े, छुटे न छोड़े; —बड़ा पुराना यह नौकर !

मिली दलाली दौलत पा ली मुफ़्त बहुत उस साल जब,
श्री वृन्दावन का तीर्थाटन फिर तो सका न टाल तब।
जिद चलने की पत्नी ने की; मैंने झाड़ दिया उपदेश :
"पति का पुन्न सती का सरबस, वरना होता खर्च विशेष !"
गठरी-पुटली बँध ली, कस ली, ठँस ली जब झोला-झोली;
कंगन बजाकर बकस सजाकर घरनी रो-रोकर बोली :
"दूर देश, सँग किसुना औढँग होगा दुख का कारण ही !"
मैं बोला, "हुम्, राम कहो तुम, सँग जायगा निवारण ही।"
रेल चली, पर ज्यों ही आकर वर्धमान में उतरे हम,—
मिले शात, थिर कृष्णकान्त फिर लेकर सुलगी हुई चिलम !
होड़-हठी झक इसको कब तक सहा करूँ मन मारकर ?
हैं सौ दूषण, फिर भी खुश मन देख पुराना यह नौकर।

उतरे आखिर; तुरत गये घिर पण्डों से श्रीधाम के।
पंडे भागे पीछे-आगे; प्राण बच रहे नाम के।
छे कि सात जन मिले एक-मन, सँग-सँग डाल दिया डेरा; -
हुआ दिलासा : सुखमय खासा होगा तीर्थाटन मेरा !
व्रजबालाएँ नजर न आयें, दीखें कही न बनवारी !
उलटे चेचक फैला घातक, मुझे भी लगी बीमारी !
तीर्थबन्धुवर मुझे छोड़कर स्वप्न की तरह भाग लिये।
पड़ा अकेला; चेचक-मेला अँग-अँग पर क्या कहिये !

क्षीण करुण स्वर जपे निरन्तर : "किसुना, तेरा आसरा !
कभी नहीं घर छोड़ा था, पर हाय, कहाँ पर आ मरा !"
मान परम-धन किसुन का वदन तकता, भर आता अन्तर !
हर लमहे में सिरहाने में खड़ा पुराना यह नौकर !

मुँह में दे जल पूछता कुशल, हाथ फेरता माथ पर।
निढाल थक
कर, नींद न पल भर, खान-पान से बेखबर !
वाणी मधुमय : "मालिक, क्या भय, लौटोगे तुम कुशल-कुशल,
तुम्हें मालकिन अचल सुहागिन पा लेंगी सिंदूर के बल !"
स्वस्थ हुआ, पर पस्त देखकर किसुना को हो आया ज्वर;—
मुझपर थी जो कालव्याधि, सो उसने ली अपने ऊपर।
दो ही दिन वह जिया विसुध रह, आखिर छोड़े प्राण !
—मेरा मतलब सधना था अब ? यों पाना था त्राण ?
बहुत दिनों पर तीर्थाटन कर जब लौटा अपने घर,
साथ न था वह चिरसाथी, अह, बन्धु पुराना नौकर !

१२ फाल्गुन १३०१ ब अनु० : २८ फाल्गुन १८८२ श०

रोज़-रोज़ मैं भोर पहर को

रोज रोज मैं भोर पहर को
जाया करता बड़े शहर को
तमिज मिश्रा के छकड़े पर होकर सवार।
बड़े सवेरे से दुपहर भर
ईंट-ईंट पर ईंट जमाकर
मन-भाती दीवारें करता हूँ तैयार।
छत-पिटनी मजूरिनें दिन भर
छतें कूटती हैं गा-गाकर
नीचे घोड़े-तांगे चलते बेशुमार।
बरतनवाला थाल बजाता;
फलवाला आवाज लगाता;
'मीठे पके शरीफ़े ले लो'—सुर लयदार।
धूल उड़ाते 'हो-हो' करके
घर की ओर भागते लड़के,
घंटी बजती है बजते ही साढ़े चार।
पड़ती सांझ, बेर ढलती है,
धुर पूरब को उड़ चलती है
काँव-काँव करती काले कौओं की डार
मैं भी अपनी पाड़ से उतर,
अपनी कन्नी-बँसुली लेकर
अपने गाँव लौट आता हूँ साँझ पहर।

अपने गाँव का पता बतायें ?—
गाजन के मेले के बायें,
ऊँची जमवटवाले पोखर के तट पर !

अनु० : २० फाल्गुन १८८२ श०

इच्छापूरण

सुबलचन्द्र के बेटे का नाम था सुशीलचन्द्र। पर आदमी हमेशा अपने नाम के अनुरूप ही नहीं होता। सुबलचन्द्र कुछ दुर्बल थे और सुशीलचन्द्र कोई खास शान्त नहीं थे।

लड़का मुहल्ले भर को परेशान किये फिरता था। इसलिए बाप कभी-कभी उसे दण्ड देने के लिए उसे पकड़ने दौड़ते थे। लेकिन बाप के पाँव में वात का रोग था और लड़का हिरन की तरह चौकड़ी भरता भाग सकता था। सो मुक्के-घूंसे थप्पड़-तमाचे सदा ठीक जगह पर नहीं पड़ते थे। और संयोग से जब कभी सुशीलचन्द्र पकड़े जाते, तो उनकी शामत ही आ जाती।

उस दिन शनिवार था। दो बजे ही स्कूल में छुट्टी होनेवाली थी। पर फिर भी स्कूल जाने को जी नहीं हो रहा था सुशील का। इसके कई कारण थे। एक तो उस दिन भूगोल की परीक्षा थी और दूसरे उस टोले के बोस-घराने में [illegible] आतिशबाज़ी थी। वहाँ सवेरे से ही धूम-धाम थी। सुशील का मन था कि दिन वहीं कट जाय।

बहुत सोच-सोचकर वह स्कूल जाने के समय बिस्तर पर [illegible] सो रहा। सुबलचन्द्र ने पास आकर पूछा, "क्यों रे, बिस्तर पर क्यों है? आज स्कूल नहीं जाना है?"

सुशील बोला, "पेट में बड़ा दर्द हो रहा है, आज नहीं जा सकूंगा।"

सुबल ने उसकी सारी बहानेबाज़ी समझ ली। [illegible] 'ठहरो, आज तुम्हें मज़ा [illegible] हूँ।' [illegible]

"पेट में मरोड़ है ? तब तो आज कहीं जाने की जरूरत नहीं। बोस के घर आतिशबाजी देखने के लिए हरि को अकेला ही भेज दूँगा। तेरे लिए लेमनजूस मोल ले रखे थे, वह भी आज रहे। तू चुपचाप पड़ा रह, मैं थोड़ा-सा पाचक बना लाता हूँ।"

सुबलचन्द्र ने सुशील का घर बन्द करके साँकल लगा दी और खूब कड़वा पाचक बनाने चले गये। सुशील बड़े घपले में पड़ गया। लेमनजूस उसे जितना ही पसन्द था, पाचक से उसके देवता उतना ही कूच करते थे। उधर बोस के घर जाने के लिए उसका जी पिछली रात से ही छटपटा रहा था। लगा कि वह सुयोग भी हाथ से गया।

सुबल बाबू बड़े से कटोरे में पाचक लिये घर में घुसे ही थे कि सुशील बड़बड़ाकर बिस्तरे से उतर पड़ा और बोला, "पेट-दर्द अब बिल्कुल रफा हो गया है, अब मैं स्कूल जा रहा हूँ।"

पिता बोले, "ना ना, स्कूल जाने की कोई जरूरत नहीं। तू पाचक पी ले और चुपचाप पड़ा रह।" और उन्होंने जबरदस्ती पाचक पिला दिया और बाहर जाकर घर में ताला लगा दिया।

सुशील बिस्तरे पर पड़ा-पड़ा दिन-भर रोता रहा और सोचता रहा कि अगर कल से ही मेरी उम्र बापू जैसी हो जाय तो मैं अपने जी की किया करूँगा और कोई मुझे बन्द नहीं रख सकेगा।

उधर सबल बाबू बाहर अकेले बैठे-बैठे सोचते रहे कि मेरे माँ-बाप मुझे बहुत लाड़-प्यार करते थे, इसी से मेरी अच्छी पढ़ाई-लिखाई नहीं हो पायी। हाय, फिर अगर बचपन के वे दिन लौट आते तो जरा भी समय बरबाद न करूँ और एक-एक पल पढ़ाई-लिखाई में ही लगा दूँ !

ठीक उसी समय इच्छा-ठकुरानी उस घर के बाहर वाले रास्ते से गुजर रही थी। पिता-पुत्र के मन की इच्छा जानकर सोचने लगी, "अच्छा तो ठीक, कुछ दिन इनकी इच्छा पूरी करके ही देखा जाय !"

यह सोचकर वह बाप के पास गयी और बोली, "तुम्हारी इच्छा

पूरी होगी। कल से तुम अपने बेटे की उम्र के होगे।" और लड़के के पास जाकर बोली, "कल से तुम अपने बाप की उम्र के होगे।" सुनकर दोनों बाप-बेटे फूले नही समाये।

बूढ़े सुबलचन्द्र रातों को ठीक से सो नही पाते थे। भोर के कुछ पहले नींद आती थी। पर उस दिन न जानें क्या हुआ कि अचानक बड़े भोर ही उठकर बिलकुल उछलते हुए बिछौने से कूद पड़े। देखा, बिलकुल छोटे से हो गये, गिरे हुए दाँत फिर से निकल आये हैं, दाढी-मूँछ के बाल न जाने कहाँ गये, कोई निशानी तक उनकी नही बची है! रात को जो धोती-कुरता पहनकर सोये थे, सवेरे वे इतने ढीले हो गये कि आस्तीनें लगभग धरती तक झूल रही थीं, कुरते का गला छाती के नीचे तक आ गया था और धोती का कोंचा इतना लोट रहा था कि पाँव उठाकर चलना भी एक समस्या बन गया था।

हमारे सुशीलचन्द्र का सदा का नित्य-नियम यह था कि वह नूर के तड़के उठकर चारों ओर ऊधम मचाते फिरते थे। लेकिन आज तो उनकी नींद खुलने का नाम ही नही ले रही थी। अपने बाप सुबलचन्द्र की धमाचौकड़ी के मारे नींद हराम हो गयी तो उठे और उठते ही देखा कि कपड़े-लत्ते बदन पर इस तरह चुस्त हो उठे हैं कि उनके फट-चिटकर लीरे-लीरे हो जाने की नौबत आ गयी है। सारा शरीर बढ गया है, पकी-अधपकी दाढी-मूँछ के मारे आधा मुँह तो दिखाई भी नही पडता। सिर में भरपूर जुल्फें थी, पर हाथ फेरकर देखा तो सामने से पूरी खोपड़ी सफ़ाचट, बिलकुल चिकनी-सी गंजी चाँद निकल आयी है।

बिस्तर छोडने की तबीयत ही नही हो रही थी। कई बार चुटकी बजा-बजाकर ऊँचे स्वर से जम्हाइयाँ ली, कई बार इस करवट से उस करवट हुए, और अन्त में उठे भी तो बाप सुबलचन्द्र की धमाचौकड़ी से खीझते हुए ही उठे।

दोनों के मन की इच्छा तो खैर पूरी हो गयी, पर दोनों बड़ी मुशकिल में पड़ गये। यह तो पहले ही बता चुका हूँ कि सुशीलचन्द्र

की इच्छा यह थी कि बापू यानी सुबलचन्द्र जैसा बड़ा और स्वाधीन हो जाऊँ तो जब जैसा जी चाहेगा करूँगा, पेड़ों पर चढ़ता फिरूँगा, पानी में कूदा करूँगा, कच्चे आम खाया करूँगा, चिड़ियों के बच्चे उतारा करूँगा, सारे देश में घूमा फिरूँगा, जब जी चाहेगा घर आकर जो जी चाहेगा खाऊँगा, मना करनेवाला कोई न होगा। लेकिन अचम्भे की बात है कि उस दिन सुबह-सवेरे उठकर पेड़ पर चढने की उसे इच्छा ही नहीं हुई। जलकुम्भी वाले पोखरे को देखकर उसे लगा कि अगर इसमें कूदूँगा तो जूड़ी-ताप घर दबायेगा। सो वह चुपचाप ओसारे में चटाई बिछाकर बैठ गया और बैठा-बैठा तरह-तरह की बातें सोचता रहा।

एक बार जी हुआ कि खेल-कूद एकबारगी छोड देना ठीक न होगा, थोड़ा खेल-कूद लेने की कोशिश कर देखने में हर्ज ही क्या है! सो वह पास के एक अमड़े के पेड़ पर चढ़ने के लिए तरह-तरह की कोशिशें करने लगा। कल तक जिस पेड़ पर वह गिलहरी की नाईं झटपट चढ़ लेता था,आज बूढे शरीर ने उसपर चढ़ने से बिलकुल इन्कार ही कर दिया। नीचे की एक नाजुक डाली पकड़कर चढना चाहा तो उसके शरीर का बोझ पड़ते ही टूट गयी और बूढ़ा सुशील धम्म से नीचे जमीन पर आ गिरा। पास के रास्ते से गुजर रहे बटोहियों ने बूढे को बच्चे की तरह पेड़ चढ़ते और गिरते देखा तो वे हँसते-हँसते लोटपोट हो गये। सुशीलचन्द्र लाज के मारे मुँह नीचा किये फिर उसी चटाई पर आ बैठा। नौकर से बोला, "अरे ओ, बाजार से एक रुपये का लेमनजूस ले आ!"

लेमनजूस के लिए सुशीलचन्द्र की चाह बड़ी प्रबल थी। स्कूल के पास की दूकान पर वह रोज रंग-बिरंगे लेमनजूस देखता था, सजा-सुजू कर रखे हुए। दो-चार पैसे जो भी उसे मिलते, उनसे लेमनजूस ही खरीदकर खाया करता था। सोचता था कि बापू की तरह खूब पैसे होंगे तो लेमनजूस खरीद-खरीदकर जेबें भर-भर रखूंगा और खाता रहूँगा। लेकिन आज जब नौकर ने एक रुपये का ढेर-सा

लेमनजूस लाकर रख दिया और सुशीलचन्द्र ने उसमें से एक उठाकर अपने दंतहीन मुँह में डालकर चूसना शुरू किया तो बूढ़े मुँह को बच्चों का लेमनजूस तनिक भी नही भाया। एक बार सोचा कि सारे लेमनजूस अपने बालक पिता को दे डालूँ, मगर तभी ध्यान आया कि ना, कोई जरूरत नही, इतने लेमनजूस खाकर वह फिर बीमार हो जायँगे।

कल तक जो लड़के सुशील के साथ कबड्डी खेला करते थे, वे उसकी तलाश में आये तो बूढ़े सुशीलचन्द्र को देखकर अलग से ही भाग खड़े हुए।

सुशील ने सोचा था कि बापू की तरह स्वाधीन हो जानें पर अपने बाल-बन्धुओं के साथ दिन भर डूडू-डुआ डूडू-डुआ करता कबड्डी खेला करूँगा, लेकिन आज राखाल, गोपाल, अक्षय, निवारण, हरिश और नन्द को अपनी ओर आते देखकर उसे भीतर-ही-भीतर बड़ी कुढ़न हुई;—वह सोचने लगा कि क्या मजे से चुपचाप बैठा था, अब ये छोकरे न जाने कहाँ आ टपके धमाचौकड़ी मचाने!

कह चुका हूँ कि बापू यानी सुबलचन्द्र रोज ओसारे में चटाई डालकर बैठे-बैठे यही सोचा करते थे कि बचपन में सारा समय नटखटपने में बरबाद कर दिया था, पर अब अगर फिर से बचपन हाथ लगा तो सारे दिन शान्त-शिष्ट होकर, दरवाजा बन्द करके घर के भीतर बैठकर, बस किताब लिये रहूँगा और पाठ कण्ठस्थ करता रहूँगा। इतना ही नही, साँझ पहर दादी से कहानी सुनना भी बन्द कर दूंगा और दिया बालकर रात के दस-ग्यारह बजे तक पढ़ाई-लिखाई ही करता रहूँगा।

पर बचपन फिर से हाथ आ जानें पर सुबलचन्द्र किसी सूरत से भी स्कूल-मुखी होना ही नही चाहते। सुशील कुढ़-कुढ कर झिड़कता कि, "बापू स्कूल नहीं जाओगे?" सुबल सिर खुजाकर मुंह लटका लेते और धीरे-धीरे कहते, "आज मेरे पेट में मरोड़ है, आज स्कूल नही जा सकूंगा।' सुशील खिसियाकर कहता, "जा क्यों नहीं

सकोगे ? स्कूल जाते समय मेरे भी ऐसी बहुत मरोड़ें हुआ करती थी, मैं यह-सब खूब जानता हूँ !"

सचमुच सुशील इतने बहानों से स्कूल नागा किया करता था और वह भी अभी इतने हाल की बात थी कि उसे छल पाना उसके बाप के बस का रोग नहीं था। सुशील अपने छोटे-से पिताजी को जबरदस्ती स्कूल भेजने लगा। स्कूल की छुट्टी होने पर सुबल घर आकर जी-भर भाग-दौड करके खेलने-कूदने के लिए बेचैन हो उठते, लेकिन ठीक तभी उनका लड़का बूढा सुशीलचन्द्र आँखो पर ऐनक चढाये कृत्तिवासी रामायण के सस्वर पाठ में तल्लीन होता और सुबल की धमाचौकड़ी से उसके पाठ में व्याघात पड़ता। इसीलिए वह सुबल को जबरदस्ती पकड़के अपने पास बिठा लेता और हाथ में स्लेट थमाकर कहता कि लीजिये पिताजी, हिसाब का अभ्यास कीजिये। ग्रकगणित के ऐसे बीहड़-बीहड़ प्रश्न चुनकर देता कि एक-एक प्रश्न में बेचारे बाप को एक-एक घण्टा समय लगाना पड़ता। साँझ पहर बूढे सुशील के कमरे में बहुत-से बूढे शतरंज खेलने बैठते। उस समय सबल को शान्त रखने के लिए सुशील ने एक मास्टर रख दिया,—मास्टर रात के दस बजे तक पढ़ाया करता था।

खान-पान के मामले मे सुशील बड़ा सख्त था। कारण, उसके पिता सुबल जब बूढे थे तो उनका हाजमा ठीक नही था;—थोड़ा भी अधिक खा लेते तो धुएँ की डकार आने लगती थी। सुशील को यह बात अच्छी तरह याद थी। इसीलिए वह अपने बाप को किसी भी सूरत में अधिक खाने नही देता था। लेकिन यकायक छोटे हो जाने पर अब उनकी भूख इतनी बढ़ गयी थी कि वे लुंडी तक पचा ले सकते थे। सुशील उन्हे खाने को इतना कम देता था कि भूख के मारे वे बेचैन-बेचैन फिरते थे। अन्त में मूखकर काँटे हो गये और हाड़-हाड़ बाहर झाँकने लगी। सुशील ने सोचा कि इन्हें कोई बुरी बीमारी लग गयी है। इसलिए वह उन्हें तरह-तरह की दवाइयां निगलवाने लगा।

बूढ़े सुशील की हालत भी पतली थी। वह अपने पिछले अभ्यास के

अनुसार जो भी करता वही उसके लिए असह्य हो उठता। पहले वह गाँव में कहीं भी नाच-तमाशे की खबर पाता तो घर से भागकर वहाँ जा पहुँचता और इस बात की कोई परवाह नहीं करता कि कड़ाके की ठंड पड़ रही है या मूसलधार बरसात है। अब बूढ़ा सुशील वैसा करता तो सरदी लग जाती, खाँसी होने लगती, देह टूटने लगती, सिर फटने लगता और उसे तीन-तीन हफ्ते बिस्तर पकड़े रहना पड़ता। वह सदा से पोखरे में नहाता आया था, पर अब ऐसा करे तो केहुने, घुटने आदि जोड़-जोड़ में भयकर वात-रोग पकड़ लेता, गाँठें सूज जाती और इलाज में छँ-छँ महीने लग जाते। उसके बाद से वह हर तीसरे दिन नहाता और वह भी गरम पानी मे! सुबल को भी वह लाख सिर पटकने पर भी पोखरे में नहाने नहीं देता। पिछले अभ्यास के मारे वह तख्त से उछल कर उतरता तो हाड़ें टनाटन झन्ना उठतीं। मुँह में साबुत पान डालने के बाद ही उसे ध्यान आता कि हाय, दाँत तो हैं ही नहीं, पान चबाना तो असम्भव है! भूलकर कंघी-कूची करने लगता, तब कहीं उसे पता चलता कि हाय, लगभग सारा सिर तो गंजा है! कभी-कभी वह अचानक भूल जाता कि मैं अपने बाप की उम्र का बूढ़ा हो गया हूँ और फिर पहले की तरह नटखट-पना करने लगता, टोले की बूढ़ी आन्दी-बुआ की कलसी औचक ढेले मारकर फोड़ देता और बेचारी पानी से नहा जाती! बूढ़े की यह बचकानी दुष्टता देखकर लोग उसे दुर्-दुर् मार्-मर् करने और मारने दौड़ते और वह भी लाज-शरम के मारे इतना गड़ जाता कि मुँह छिपाने को कहीं ठौर नहीं ढूँढ़ पाता।

सुबलचन्द्र भी कभी-कभी अचानक भूल जाते कि मैं बालक हो गया हूँ। अपने को पहले जैसा ही बूढ़ा समझकर वह बूढ़ों के ताश-चौपड के मेल देखने लगता और पास बैठकर बूढ़ों जैसी बातें करने लगता। इस पर सभी उसे दुतकारते कि "जा जा, बच्चों के संग खेल-कूद, जा;—पुरनिया-पन करने की कोई जरूरत नहीं!"—और वे कान पकड़कर उसे वहाँ से विदा कर देते। अक्सर अनभेती

घड़ियों में अचानक भूलकर मास्टर से कह बैठता कि "जरा तम्बाकू तो खिलाना !" इस पर मास्टर उसे बेंच के ऊपर एक टाँग पर खड़ा कर देते। नाई से कहता, "अरे वेजा, कई दिन हो गये, मेरी दाढी वनाने क्यों नहीं आया तू ?" नाई सोचता कि लड़के ने खूब ठिठोली करनी सीख ली है ! कहता, "वस अभी आया, कोई दसेक वरस में !" और कभी-कभी पहले अभ्यास-वश अपने बेटे सुशील को मार भी बैठता। सुशील बहुत ही नाराज होकर कहता कि "पढ-लिखकर यही बुद्धि हो रही है तुम्हारी ? वित्ते भर के लडके होकर भी तुम बूढ़े आदमी पर हाथ उठाते हो ! छी !" और यों ही बे-वात की बात में उसे सभी लोग मारते-पीटते, कोई घूँसे लगाता, कोई चपत लगाता तो कोई गाली देता।

तंग आकर सुबल ने एकाग्र मन से प्रार्थना करनी शुरू की कि, "हाय, अगर अपने बेटे सुशील की तरह बूढ़ा और स्वाधीन हो जाता तो इस साँसत से जान वचती !"

उधर सुशील भी रोज हाथ जोड़कर कहता कि "हे देवता, वापू की तरह मुझे छोटा बालक बना दो कि मनमाने खेल खेलता फिरूँ। वापू इतने नटखट हो उठे है कि उन्हें सँभालना मेरे बूते के बाहर हो गया है, चिन्ता के मारे मुझे घड़ी भर भी चैन नहीं है !"

तब इच्छा ठकुरानी आयी और बोली, "क्यों तुम्हारी साधें मिट गयी ?"

दोनों वाप-बेटे दण्डवत्-प्रणाम करके बोले, "दुहाई ठकुरानी की ! मिट गयी साधे ! अब तो हमें वही बना दो, जो हम पहले थे।"

इच्छा ठकुरानी बोली, "अच्छा, कल सवेरे उठने पर तुम लोग फिर वही रहोगे।"

दूसरे दिन सवेरे सुबल पहले जैसे बूढे होकर उठे और सुशील पहले जैसा बालक होकर उठा। दोनों को ऐसा लगा मानो किसी

सपने से जगे हों। सुबल ने गला भारी करके कहा, "सुशील, व्याकरण कण्ठस्थ नहीं करोगे?"

सुशील ने सिर खुजाते हुए कहा, "बापू, मेरी किताब खो गयी है।"

आश्विन १३०२ बँ०   अनु० ३० चैत्र १८८३ श०

हम तो खेत करें मगन-मगन

हम तो खेत करें मगन-मगन।
बड़े भोर से बेर डूबे तक पाँतर-पाँतर में हो दिन-यापन॥
धूप तपे, मेंह झरे झर-झर
बँसवाड़ी-पात कँपें थर-थर
जुते खेत की सोंधी गंध भर चले मंद-मंद पवन॥
हरे प्राणों की गीति-लेखाएँ
दरस-परस दें रेखा-रेखा में,
झूमर में झूम रहे छंदों मे बौराये कौन तरुण कवि-मन ?॥
धान की बालों में पुलक भरती
बिहँस-बिहँस पड़ती सारी धरती,
पूने की चाँदनी की चाँदी रे, सोने की धूप का घुला अगहन॥

अनु : १८ फाल्गुन १८८२ श०

नभ की गोदी धूप हँसी है

नभ की गोदी धूप हँसी है, बादल भागे दूर
आज हमारी छुट्टी रे भई, आज छूट भरपूर !
'आज क्या करूँ'–सोच न पाऊँ,
राह भुला किस वन को जाऊँ,
सब बालक मिल किस पांतर में भटक-भटक हों चूर ? ॥
केवड़ा-दल की नावें फूलों में सजी अनमोल
अगम-ताल में डालेंगे चल, देंगी टोलमढोल।
चरवाहों सँग गाय चरायें,
आज बाँसुरी खूब बजायें,
चंपा-वन में लोट लगायें, रमे फूल की धूर।

अनु० : १३ फाल्गुन १८८२ श०

गुप्त धन

अमावस की आधी रात का समय। मृत्युञ्जय पूजा पर बैठा था। जयकाली न जाने कब से उसकी गृह-देवता हैं। पूजा तान्त्रिक रीति से होती है। पूजा समाप्त करके मृत्युञ्जय उठा तो पास की अमराई में भोर का पहला कौआ बोल उठा था।

मृत्युञ्जय ने पीछे की ओर मुड़कर देखा। मन्दिर का दरवाजा बन्द था। उसने एक बार और देवी के चरणों पर माथा टेक दिया। फिर अपना आसन सरका कर उसके तले से कटहल की लकड़ी की एक पिटारी निकाली। ताली जनेऊ में बँधी थी। उसने पिटारी खोली। पिटारी के खुलते ही वह चौंक पड़ा। उसने अपना सिर पीट लिया।

मृत्युञ्जय का भीतरी बाग चहारदीवारी से घिरा है। उसी बाग के एक कोने में जयकाली का यह छोटा-सा मन्दिर है। बड़े-बड़े पेड़ों की छाँह के अँधेरे में। मन्दिर में जयकाली की मूर्ति के सिवा और कहीं-कुछ नही है। मन्दिर में घुसने का दरवाजा एक ही है। मृत्युञ्जय बड़ी देर तक पिटारी को हिला-डुला कर देखता रहा। अभी-अभी खोली जाने के पहले तक पिटारी बिलकुल बन्द ही थी,—किसी ने उसे तोडा-ताडा भी नही था। मृत्युञ्जय एक नही दस बार मूर्ति के चारों ओर चक्कर लगा आया। उसने हर कोने-अँतरे को टटोल-टटोलकर देखा। कही कुछ नही मिला। वह पागल-सा हो उठा। उसने मन्दिर का दरवाजा खोल दिया। उस समय पौ फट रही थी। वह मन्दिर के चारों ओर घूम-घूमकर कुछ खोजता रहा। खोजता क्या रहा, इस बहाने अपने जी को एक बेकार-सा दिलासा

दिलाता रहा।

भोर के उजाले के अच्छी तरह खिल उठने के बाद वह बाहर के चण्डी-मण्डप में आ गया और माथे पर हाथ रखकर चिन्ता में खो गया। सारी रात के रतजगे से थका-मांदा शरीर अलसा आया। पलकें भारी हो आयी। ऊँघ आँखों में अभी-अभी गहराने लगी थी कि अचानक किसी ने पुकारा : "जय हो बाबा !" मृत्युञ्जय चौंक उठा।

सामने अँगनाई में एक जटाजूट-धारी सन्यासी खड़ा था। मृत्युञ्जय ने भक्ति-भाव से प्रणाम किया। संन्यासी ने उसके सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दिया और कहा : "बाबा, तुम बेकार ही शोक कर रहे हो !"

सुनकर मृत्युञ्जय को बड़ा अचम्भा हुआ। वह बोला, "आप अन्तर्यामी हैं। नहीं तो मेरे शोक की बात का पता आपको भला कैसे चलता ? मैंने तो किसी से कुछ नहीं कहा।"

संन्यासी ने कहा : "वत्स, मैं कह रहा हूँ न, कि तुम्हारी जो चीज़ खो गयी है, उसके लिए तुम शोक नहीं बल्कि आनन्द मनाओ।"

मृत्युञ्जय ने संन्यासी के दोनों पैर कसकर पकड़ लिये। बोला, "तब तो आप निश्चय ही सब-कुछ जानते है। कैसे खोयी वह चीज़? फिर कैसे मिलेगी ? उसके लिए कहाँ जाऊँ ? जब तक आप ये बातें मुझे बता नहीं देंगे, तब तक मैं आपके चरण नहीं छोड़ने का !"

संन्यासी ने कहा, "अगर मैं तुम्हारा अमंगल चाहता तो जरूर ही बता देता। लेकिन भगवती ने दया करके जो वस्तु हरण कर ली है, उसके लिए शोक करना ठीक नहीं :"

संन्यासी को प्रसन्न करने के लिए मृत्युञ्जय दिन भर उनकी सेवा में लगा रहा। इसके लिए उसने कितने ही उपचार किये। दूसरे दिन भोर ही भोर जब वह अपनी गोठ से लोटा भर ताज़ा झागल दूध लेकर हाजिर हुआ तो देखता क्या है कि संन्यासी तो लापता है।

२

मृत्युञ्जय जब बच्चा ही था, तभी के एक दिन की बात है: उसके दादा हरिहर इसी चण्डी-मण्डप में बैठे तम्बाकू पी रहे थे कि एक संन्यासी इसी तरह से अचानक प्रकट होकर "जय हो बाबा" कहता हुआ इसी अँगनाई में आकर खड़ा हो गया था। हरिहर ने उस संन्यासी को कई दिन अपने घर में रखकर सन्तुष्ट और प्रसन्न किया था।

विदा होते समय सन्यासी ने पूछा: "वत्स, तुम क्या चाहते हो?" हरिहर ने कहा, "बाबा अगर प्रसन्न हैं तो पहले एक बार मेरी अवस्था तो सुन लें। कभी हम इस गाँव में सबसे बढ़े-चढ़े थे। मेरे परदादा बहुत दूर से एक कुलीन वर ढूंढ़ लाये थे और उसके साथ अपनी एक कन्या ब्याह दी थी। घेवतों के उसी कुल ने हमें धोखा दिया और इस धोखाधड़ी के बूते वह आजकल इस गाँव के 'बड़े-लोगों' का कुल हो उठा है। इस समय हमारी अवस्था अच्छी नहीं है, इसलिए हमें इन 'बड़े-लोगों' के अहङ्कार को चुपचाप सह लेना पड़ता है। लेकिन अब सहन नही हो पाता। बाबा हमें यही आशीर्वाद दें कि हमारा घराना फिर किसी तरह से उन्नति कर ले और वह उपाय भी बता दें जिससे कि हमारी उन्नति हो सके।"

संन्यासी ने मुस्कराकर कहा: "बाबा, बड़े होने के चक्कर में मत पड़ो, छोटे-लोग रहकर ही सुख से जीवन बिताओ। बड़े होने की कोशिश करने में मुझे कोई श्रेय दिखाई नहीं देता।"

लेकिन हरिहर ने फिर भी उनका पीछा नही छोड़ा। वह अपने घराने की उन्नति के लिए सभी तरह के कष्ट स्वीकार करने को तैयार था।

आखिर संन्यासी पसीजे। उन्होने अपनी झोली से एक पुराना बँसहा काग़ज़ निकाला, जो बड़े जतन से खरुए कपड़े के एक टुकड़े में लिपटा हुआ था। लम्बी जनम-कुण्डली की तरह लपेटा हुआ। संन्यासी ने उसे खोलकर मेज पर बिछा दिया। हरिहर ने देखा:

काग़ज पर तरह-तरह के चत्र, निशान और संकेत बने हुए हैं। निशानों के बाद बिल्कुल नीचे एक फकड़ा लिखा हुआ था जो, शैतान की आँत की तरह बेहद लम्बा था। फकड़े का आरम्भ इन तुकबन्दियों से किया गया था :

> वहुधा वहु से बिछुड़ अकेली साधना
> मघुरा सिद्धि साध लेती मधु के बिना !
> फिर स्वामी होते हैं गोस्वामी के वाम :
> वह ललकार कि जो वचता सो खोकर नाम !
> वड़ की गोदी में इमली दीखे तुम्हें,
> तो दक्षिण को चलो नाक की सीध में।
> ईशानी का वास कोण-ईशान में :—
> बूझो, अब तो वतला चुका निशान मैं !

हरिहर ने कहा, "वावा, समझ में तो खाक-पत्थर नहीं आया!"

संन्यासी ने कहा, "अपने पास रख छोड़ो। देवी की पूजा करते रहो। उसका प्रसाद होगा तो तुम्हारे वश में कोई न कोई इस फकड़े के अनुसार इतनी धन-दौलत पायेगा, जिसकी वरावरी दुनिया की कोई धन-दौलत नहीं कर सकती।"

हरिहर ने चिरौरी की : "वावा ही क्यों नहीं समझा देते ?"

संन्यासी ने कहा, "साधना द्वारा समझना होगा।"

ठीक उसी समय हरिहर का छोटा भाई शंकर वहाँ पर आ पहुँचा। उसे देखकर हरिहर ने हड़वड़ाकर उस पत्र-कुण्डली को झट-पट लपेट-समेट लेना चाहा। संन्यासी ने हँसकर कहा, "बड़े आदमी बनने के रास्ते में जो दुख होते है, वे इसी घड़ी से शुरू हो गये। लेकिन इसे छिपाने की जरूरत नहीं। कारण, इसके रहस्य का भेदन सिर्फ एक आदमी कर पायेगा। दूसरे लाख सिर मार लें, पर नाकाम ही रहेंगे। तुममें वह व्यक्ति कौन है, सो कोई नहीं जानता। इसलिए इस लिखावट को तुम सभी के आगे बेधड़क होकर खोले रख सकते हो।"

संन्यासी चले गये। पर हरिहर उस कागज को छिपाये बिना रह न सका। उसे आशंका यह थी कि कहीं ऐसा न हो कि इसका लाभ कोई और ही उठा ले; कि इसका फलभोग शंकर को ही मिले! इसी आशंका से उसने कटहल की लकड़ी की एक पिटारी में उस लिखावट को बन्द कर दिया और उस पिटारी को अपनी गृहदेवता जयकाली के आसन-तले छिपा दिया। हर अमावस की आधी रात को देवी-पूजन के बाद वह उसे खोलकर पढ़ता कि शायद देवी प्रसन्न होकर अर्थ समझने की शक्ति दे दें।

कुछ दिन बाद शंकर दाँत-निपोरी करने लगा कि "भैया एक बार वह कागज मुझे अच्छी तरह देख लेने दो न!"

हरिहर ने कहा, "धत् पगले, वह भी कोई कागज है! पाजी ढोंगी संन्यासी कागज पर ढेर सारी गिजबिज लकीरें डालकर मुझे भुलावा दे गया। मैंने तो उसे जला डाला।"

शंकर चुप हो रहा। पर कुछ दिन बाद वह अचानक ही लापता हो गया।

हरिहर के सारे काम-धाम चौपट हो गये। गुप्त ऐश्वर्य का ध्यान वह पल भर के लिए भी भुला नहीं सकता था।

मरते समय वह संन्यासी-प्रदत्त कागज अपने बड़े बेटे श्यामापद को दे गया।

कागज पाते ही श्यामापद ने नौकरी छोड़ दी। वह समझ भी नहीं पाया कि जयकाली की पूजा और उस लिखन-पाठ की चर्चा में उसका जीवन किधर से निकल गया!

मृत्युञ्जय श्यामापद का बड़ा लड़का है। पिता की मृत्यु के बाद वही इस संन्यासी-प्रदत्त गुप्त-लिखन का अधिकारी हुआ है। उसकी स्थिति उत्तरोत्तर जितनी ही हीन होती गयी है, उतने ही अधिक आग्रह के साथ उसने इस कागज पर अपना समग्र-चित्त-निवेश किया है। ऐसी ही अवस्था में पिछली अमावास की रात को लिखन अदृश्य हो गया और संन्यासी भी न जाने कहाँ अन्तर्हित हो गया।

मृत्युञ्जय ने कहा, "इस संन्यासी का पिण्ड नही छोड़ूँगा। सारा पता इसीसे मिलेगा।"

यही सोचकर वह संन्यासी की खोज में घर छोड़कर निकल प [illegible]। राहों-राहों में ही उसने पूरा एक बरस काट दिया।

३

उस समय मृत्युञ्जय जिस गाँव में था, उसका नाम था धार-गोल। वह एक मोदी की दूकान में बैठा हुक़्क़ा पी रहा था और अनमने भाव से तरह-तरह की बातें सोच रहा था। इतने में दूर मैदान के किनारे से कोई संन्यासी निकला चला गया। पहले तो मृत्युञ्जय का ध्यान उधर नहीं गया। पर थोड़ी देर बाद अचानक उसे याद आया कि अरे, यह तो वही संन्यासी है। हुक़्क़ा पटक कर वह दूकान से निकला और बड़ी तेज़ी से उसी ओर दौड़ पड़ा। मोदी मुँह बाये देखता रह गया। काफ़ी दूर दौड़ लेने के बाद मृत्युञ्जय लौट आया। सन्यासी न जाने किधर अदृश्य हो गया था।

साँझ का पहर था। अँधेरा पड़ चला था। मृत्युञ्जय समझ नहीं पा रहा था कि इस अनजानी जगह में संन्यासी की खोज कहाँ की जाय! दूकान में लौटकर मोदी से पूछा, "यह जो बहुत बड़ा जंगल दिखाई पड़ता है, उसमें क्या है?"

मोदी बोला, "कभी यह जंगल नहीं, एक बड़ा-सा नगर था। अगस्त्य मुनि के शाप से यहाँ के राजा और प्रजा, सभी महामारी की भेंट चढ़ गये। कहते हैं, आज भी वहाँ पर प्रचुर धन-रत्न मिल सकता है, पर दिन-दोपहर के समय भी इस जंगल में घुसने का साहस किसीको नहीं होता। जो इस बन में गया भी, सो फिर लौट नही पाया।"

मृत्युञ्जय का मन चंचल हो उठा। [illegible] रात वह मोदी की दूकान में चटाई पर पड़ा करवटें बदलता रहा, मच्छरों के मारे अपनी सारी देह पर चांटे मारता रहा और मन ही मन इस जंगल की बात [illegible]स संन्यासी की बात और अपने खोये हुए गुप्त-लिखन की

सोचता रहा। बारम्बार पढ़े होने के कारण वह लिखन तो मृत्युञ्जय को लगभग कण्ठस्थ ही हो गया था। सो, इस अनिद्रावस्था में उसके सिर के भीतर बारम्बार यही फकड़ा चक्कर काटता रहा कि

"बहुधा बहु से बिछुड़ अकेली साधना
मधुरा सिद्धि साध लेती मधु के बिना!
फिर स्वामी होते हैं गोस्वामी से वाम,
वह ललकार कि जो बचता सो खोकर नाम!"

सिर गरम हो उठा,—पर ये तीन-चार पंक्तियाँ किसी भी तरह उसके ध्यान से उतरने की नाम ही न लें। अन्त में लगभग भोर पहर जब उसकी आँखें झिपीं तो स्वप्न में इन चार पंक्तियों का अर्थ अत्यन्त सहज भाव से उस पर प्रकट हो गया। 'बहुधा बहु से बिछुड़' अर्थात् 'बहुधा' शब्द में 'बहु' शब्द नहीं रहा तो केवल 'धा' बचा;—'मधुरा'''मधु के बिना' अर्थात् 'रा'; दोनों को मिलाकर बना 'धारा';—फिर 'स्वामी'''गोस्वामी से वाम' अर्थात् 'गो' और 'वह ललकार कि जो बचता सो खोकर नाम' अर्थात् 'ललकार' में से 'लकार' निकल जाने पर जो वर्ण बचा रहता है, वह 'ल' है और 'लकार' शब्द 'ल' वर्ण का ही नाम है, जिसका मतलब यह हुआ कि 'धारा' के बाद 'गो' और 'गो' के बाद 'ल' लगाने से 'धारागोल' नाम बनता है, जो इस स्थान का नाम है।

सपना टूटा और मृत्युञ्जय उछल पड़ा।

४

सारे दिन जंगल में मारे-मारे फिरने के बाद मृत्युञ्य संझा को बड़े कष्ट से राह खोजकर गाँव लौटा तो अनाहार के मारे उसकी अवस्था मृतप्राय जैसी हो उठी थी।

अगले दिन फिर वन-यात्रा की, पर इस बार चादर की खूंट में चिवड़ा बाँधकर लेता गया। तीसरे पहर एक पोखरे के किनारे पहुँचा। पोखरे के बीच में स्वच्छ जल और चारों किनारों से लगे-लगे पद्म-वन तथा कुमुद-वन थे। पत्थर से बँधा घाट टूट-फूट चुका था।

वही उसने चिवड़ा भिगोकर खाया और पोखरे की प्रदाक्षेणा करके चारों ओर के दृश्य देखने लगा।

पश्चिम किनारे वाले भिण्ड पर पहुँचते ही मृत्युञ्जय अचानक थमक कर खड़ा हो गया। देखा एक विशाल बरगद इमली के पेड़ को घेरे हुए है। उसी क्षण उसे याद आया कि :

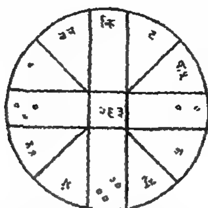
"वड़ की गोदी में इमली दीखे तुम्हें,
तो दक्षिण को चलो नाक की सीध में।"

नाक की सीध में दक्षिण की ओर कुछ ही दूर जाने के बाद वह घने जंगल में आ फँसा। वहाँ बेंत के घने कुञ्जों को भेद कर चलना बिलकुल ही असाध्य काम था। जो हो मृत्युञ्जय ने यह ठान लिया था कि इस पेड़ के ठिकाने मे हरगिज भटकना नहीं है।

वह 'वड़ की गोदी में इमली' के पास लौट आया। लौटते समय पेड़ों के अन्तराल से उसे अनति-दूर पर ही एक मन्दिर का कँगूरा दिखाई पड़ा। उसीकी ओर लक्ष रखकर चलता-चलता वह एक टूटे मन्दिर के पास आ पहुँचा। देखा, मन्दिर के पास ही एक चूल्हा, कुछ अधजली लकड़ियाँ और राख की ढेरी पड़ी थी। मृत्युञ्जय ने बड़ी सावधानी के साथ उस भग्न-द्वार मन्दिर के भीतर झाँका। वहाँ कोई नहीं था। न ही कोई प्रतिमा थी। केवल एक कम्बल, एक कमण्डल और एक गेरुआ उत्तरीय पड़ा था।

सन्ध्या उतरी आ रही थी। गाँव दूर था। अँधेरे वन में राह पाना अनिश्चित था। सो इस मन्दिर में मनुष्य का आवास का लक्षण देखकर मृत्युञ्जय को बड़ी खुशी हुई। मन्दिर का एक बहुत बड़ा पत्थर गिरकर दरवाजे के पास ही पड़ा हुआ था। उसी प्रस्तरखण्ड पर वह सिर झुकाये बैठा रहा और तरह-तरह की बातें सोचता रहा। अचानक उसने देखा कि उस पत्थर में कुछ लिखा हुआ है। झुककर देखा कि एक चक्र अंकित था, जिसमें कुछ स्पष्ट तो कुछ

अस्पष्ट लुप्त-प्राय-जैसे निम्नलिखित सांकेतिक अक्षर उत्कीर्ण थे :



यह चक्र मृत्युञ्जय का सुपरिचित था। कितनी अमावसों की रातों में पूजागृह के भीतर सुगंध-पूरित धूप के धुएँ में घृत-भरित दीप के आलोक में वह बेसहा कागज़ पर अंकित इसी चक्र-चिह्न के ऊपर झुका रहस्य-भेदन करने के लिए एकाग्र मन से देवी के प्रसाद की याच्ञा करता रहा है। आज अभीष्ट-सिद्धि के अत्यन्त सन्निकट आकर उसके सर्वाङ्ग में मानो एक कँपकँपी-सी होने लगी। आशंका होने लगी कि कहीं ऐसा न हो कि किनारे लगते-लगते नाव डूब जाय, कहीं ऐसा न हो कि किसी सामान्य-सी भूल के कारण सरवस नष्ट हो जाय, कहीं ऐसा न हो कि यह संन्यासी पहले पहुँचकर सारा गुप्त धन उद्धार करके ले जा चुका हो! इन आशंकाओं के मारे उसके वक्षस्थल के भीतर भयंकर उखाड़-पछाड़-सी होने लगी। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि इस समय क्या करना उचित होगा और क्या अनुचित! उसे लगा कि शायद ऐसा भी हो सकता है कि मैं अपने ऐश्वर्य-भण्डार के ठीक ऊपर बैठा होऊँ और फिर भी उसके अस्तित्व से बेखबर होऊँ।

वह बैठा-बैठा चुपचाप काली-नाम जपता रहा। सन्ध्या का अन्धकार निबिड़ हो आया और झिल्ली की झींझींकार से वन-भूमि मुखर हो उठी।

तभी कुछ दूर घने वन में अग्नि की दीप्ति दीख पड़ी। मृत्युञ्जय अपना शिलासन छोड़कर उठ खड़ा हुआ और उस अग्नि-शिखा की दिशा में चल पड़ा।

बड़े कष्ट से कुछ दूर जाने के बाद एक पीपल के तने की ओट से वह स्पष्ट देख सका कि वही परिचित संन्यासी अग्नि के आलोक में उसी बँसहा काग़ज के लिखन से मिला-मिलाकर राख के ऊपर एक लकड़ी से कुछ हिसाब लगाने में एकाग्रभाव से निमग्न है।

मृत्युञ्जय के घर का वही बँसहा कागज वाला लिखन था यह तो! अरे ढोंगी, चोर! इसीलिए तुमने मुझे शोक करने से मना किया था! अब समझा!

संन्यासी कुछ हिसाब कर लेता तो एक लग्गा लेकर वहाँ की धरती नापने लगता। यह क्रम उसने कई बार दुहराया। कुछ दूर नाप चुकने पर हताश होकर सिर हिलाता हुआ पुनर्वार लौटकर राख पर हिसाब लगाने में प्रवृत्त हो जाता।

इसी चक्कर में सारी रात निकल गयी और जिस समय निशान्त की शीतल बयार में वनस्पति-शाखाओं के पल्लव-दल मर्मरित हो उठे, उस समय संन्यासी ने वह पत्र-कुण्डली लपेट ली और वहाँ से उठकर चला गया।

मृत्युञ्जय की समझ में नहीं आया कि अब क्या करूँ। पर इतना तो उसने निश्चित रूप से समझ लिया कि संन्यासी की सहायता के बिना इस लिखन का रहस्य-भेदन करना कदापि सम्भव न होगा। और यह भी उसे लगभग निश्चित-सा ही लगा कि धन-लुब्ध संन्यासी मेरी सहायता नहीं करेगा। अतएव छिप-छिपकर संन्यासी पर निगरानी रखने के सिवा और कोई चारा नहीं था। पर साथ ही यह भी आवश्यक था कि दिन के समय गाँव में जाया जाय, वरना आहार की व्यवस्था नहीं हो सकती थी। इसलिए उसने निश्चय किया कि कम-से-कम कल सवेरे तो एक बार गाँव से हो ही आऊँ।

भिनसार पहर अँधेरे के थोड़ा फीका पड़ते ही वह पेड़ से उतर पड़ा। जहाँ पर संन्यासी राख के ऊपर हिसाब लगा रहा था, वहाँ उसने अच्छी तरह निहार-निहार कर देखा, पर उसकी समझ में खाक नहीं आया। चारों ओर देखा, अन्य वन-खण्डों से इस वन-खण्ड का कोई भी प्रभेद नहीं था।

धीरे-धीरे वन-भूमि के छाया-ढँके तल-देश का अन्धकार क्षीण हो चला तो मृत्युञ्जय अत्यन्त सावधानी के साथ चारों ओर देखता हुआ गाँव की ओर चल पड़ा। उसे भय था कि कहीं संन्यासी मुझे देख न ले।

जिस दूकान में मृत्युञ्जय ने आश्रय लिया था, उसके पास ही एक कायस्थ-गृहिणी उस दिन की पारणा के निमित्त ब्राह्मण-भोजन करा रही थी। मृत्युञ्जय को वही भोजन मिल गया। कई दिनों के आहार-कष्ट के बाद उस दिन का भोजन कुछ गुरुतर हो गया। इसलिए हुक़्क़ा पीने के बाद जरा लोटपोट करने की इच्छा हुई और वह दूकान की चटाई पर लेट रहा। लेटते ही पिछली रात की निद्रा-कातर आँखों में गहरी नींद घिर आयी।

मृत्युञ्जय ने निश्चय किया था कि भोजन आदि से सवेरे-सवेरे ही निवृत्त हो लूँगा और यथेष्ट बेर रहते ही निकल पड़ूँगा। पर हुआ ठीक उलटा ही। नींद खुली तो देखा कि दिन डूब चुका है। फिर भी मृत्युञ्जय माना नहीं। रात के अंधकार में ही उसने वन-प्रवेश किया।

देखते-देखते रात्रि घनीभूत हो उठी। वृक्षों की छाया में दृष्टि कोई काम नहीं कर पाती थी। जंगल में पग-पग पर पथ रुद्ध हो जाता था। मृत्युञ्जय को पता भी न चला कि मैं किधर कहाँ जा रहा हूँ। भोर होने पर देखा कि मैं तो सारी रात वन के एक ही प्रान्त में चक्कर काटता रहा हूँ।

कौए काँव-काँव करते हुए गाँव की ओर उड़ चले। यह काँव-काँव शब्द मृत्युञ्जय के कानों को व्यङ्ग्यपूर्ण धिक्कार-वाक्य की तरह लगा।

गणना में बारम्बार भूलें करने और बारम्बार उन भूलों का संशोधन करने के बाद अन्त में संन्यासी ने सुरंग के मार्ग का आविष्कार कर लिया। उन्होंने मशाल लेकर सुरंग में प्रवेश किया। पक्की भीतों पर सीलन चढ़ गयी थी। कहीं-कहीं से तो सचमुच पानी चू रहा था। जगह-जगह मेंढ़क एक-दूसरे पर चिपके स्तूपाकार बने सो रहे थे। इस फिसलन भरी राह से कुछ ही दूर जाने पर संन्यासी ने देखा कि आगे दीवार है, मार्ग रुद्ध है। कुछ समझ में नहीं आया। दीवार के सर्वांग पर लौह-दण्ड से प्रबल आघात करके देखा, पर खोखलेपन की आवाज़ कहीं से नहीं निकली, कहीं किसी रन्ध्र का आभास नहीं मिला। इसमें कोई सन्देह नहीं रहा कि उस सुरंग-मार्ग का अंत वहीं पर था।

फिर वही क़ाग़ज खोलकर, सिर पर हाथ धरकर, सोचने लगे। वह रात यों ही कटी।

अगले दिन फिर गणना करके सुरंग में पैठे। उस दिन गुप्त संकेत का अनुसरण करके एक विशेष स्थान का पत्थर खिसकाया और आगे के शाखा-पथ का आविष्कार किया। उसके रास्ते आगे बढ़ते-बढ़ते फिर एक जगह पथ रुद्ध मिला।

अन्त में पंचम रात्रि को सुरङ्ग-प्रवेश करने के बाद संन्यासी बोल उठे, "आज राह मिल गयी है, आज भूल हरगिज नहीं हो सकती!"

पथ अत्यन्त जटिल था। शाखा-प्रशाखाओं का कोई अन्त न था। कहीं-कहीं राह इतनी सँकरी थी कि बिलकुल गुड़ीमुड़ी होकर आगे बढ़ना पड़ता था। बड़े जतन से मशाल लिए चलते-चलते संन्यासी आखिर एक गोलाकार घर जैसी जगह पर पहुँचे। उस घर के ठीक बीचोंबीच एक विशाल बावली थी। मशाल की रोशनी में बावली का तलदेश दिखाई नहीं पड़ा। घर की छत से एक बड़ी ही मोटी और विशाल लौह-शृंखला बावली में उतरती चली गयी थी। संन्यासी ने प्राण-पण से अपना सारा बल-बूता लगाकर धकेला तो

वह शृंखला बिलकुल ही थोड़ा-सा हिली। परन्तु उसके हिलते ही बावली के गह्वर से एक ऐसा ठंकार-शब्द उठा, जो पूरे घर में बड़ी देर तक गुंजित होता रहा। संन्यासी बड़े ज़ोर से चिल्ला उठे कि : "पा लिया !"

उनकी चिल्लाहट के साथ ही उस घर की टूटी दीवार से एक पत्थर लुढ़क पड़ा और उस पत्थर के संग-ही-संग एक और कोई सचेतन पदार्थ धम्म्-से गिरा और गिरते ही चीत्कार कर उठा। संन्यासी इस अकस्मात् शब्द से चौंक पड़े और उनके हाथ से मशाल गिरकर बुझ गयी।

७

संन्यासी ने पूछा, "कौन हो तुम ?" कोई उत्तर न मिला। अँधेरे में टटोलने पर उन्हें एक मनुष्य-देह का स्पर्श मिला। उसे हिलाकर पूछा, "कौन हो तुम ?"

कोई उत्तर नहीं। गिरने वाला बेहोश हो गया था।

संन्यासी ने चक़मक रगड़-रगड़कर बड़े कष्ट से मशाल जलायी। तब तक वह दूसरा व्यक्ति होश में आ गया और उठने की चेष्टा करने पर वेदना से आर्त्तनाद कर उठा।

संन्यासी बोले, "यह क्या ?—अरे, तुम तो मृत्युंजय हो ! तुम्हारी ऐसी मति कैसे हुई ?"

मृत्युंजय ने कहा, "बाबा, क्षमा कर दो। भगवान् ने मुझे दण्ड दे दिया है। पत्थर फेंककर तुम्हें मार डालने के प्रयास में मैं अपने आपको सँभाल नही पाया, फिसलकर पत्थर समेत नीचे गिर पड़ा। पैर तो निश्चय ही टूट गया है।"

संन्यासी ने पूछा, "मुझे मारने से तुम्हारा क्या लाभ होता ?"

मृत्युंजय बोला, "लाभ की बात तुम पूछते हो ? तुम किस लोभ में मेरे पूजा-घर से लिखन चुरा लाये हो और इन सुरंगों में भटकते फिर रहे हो ! तुम चोर हो, पाखण्डी हो ! जिस संन्यासी ने मेरे पितामह को यह लिखन दिया था, उन्होंने कहा था कि हमारे वंश

का ही कोई व्यक्ति इसके संकेतों को समझ पायेगा। इसलिए इस गुप्त ऐश्वर्य के अधिकारी हमी हैं। इसलिए मैं पिछले कई दिनों से बे-खाये, बे-सोये छाया की तरह तुम्हारे पीछे लगा रहा हूँ। आज जब तुम चिल्ला उठे कि 'पा लिया',—तो मेरा धैर्य जाता रहा! मैं तुम्हारे पीछे-पीछे आकर उस गर्त में छिपा बैठा था। मैने वहाँ से एक पत्थर खिसकाकर तुम्हें मारना चाहा, पर शरीर ठहरा दुर्बल और जगह भी अत्यन्त पिच्छल थी, सो मैं गिर पड़ा। अब तुम मुझे मार भी डालो तो अच्छा ही होगा। मैं यक्ष बनकर यह धन अगोरूँगा। पर तुम इसे कदापि नहीं पा सकते। अगर हड़प कर लेने की कोशिश की तो समझ रखो, मैं ब्राह्मण हूँ, तुम्हें शाप देकर इसी बावली में कूद पडूंगा और आत्महत्या कर लूंगा। यह धन तुम्हारे लिए ब्रह्म-रक्त-गोरक्त तुल्य होगा। इसका सुख-भोग तुम कदापि नही कर सकोगे। हमारे पिता-पितामह इसी धन पर एकाग्र ध्यान लगाये मरे हैं, इसीके ध्यान में हम दरिद्र हुए हैं, इसीकी खोज में मैं घर पर अनाथा पत्नी और शिशु-सन्तान को छोड़ आया हूँ और आहार-निद्रा त्यागकर अभागे पागल की तरह हाटों हाट, घाटों घाट और बाटों बाट मारा-मारा फिर रहा हूँ। मेरी आँखों के आगे से यह धन तुम कदापि हस्तगत नही कर सकोगे।

८

संन्यासी ने कहा, "मृत्युंजय, फिर तो तुम ध्यान से सुनो। आज सारी बात तुम्हें बता ही दूं। यह तो तुम जानते ही हो कि तुम्हारे पितामह के एक कनिष्ठ सहोदर थे, जिनका नाम था शंकर।"

मृत्युंजय ने कहा, "हाँ, वह लापता हो गये थे।"

संन्यासी बोले, "मैं वही शंकर हूँ!"

मृत्युंजय ने हताश होकर लम्बी उसाँस छोड़ी। अभी तक इस गुप्त धन के ऊपर जो एकमात्र अपना अधिकार प्रमाणित कर रखा था, उसे उसके अपने ही वंश के इस दूसरे कुटुम्बी ने प्रकट होकर असिद्ध कर दिया।

शकर ने कहा, "संन्यासी से लिखन पाने के क्षण से ही भैया उसे मुझसे बाक़ायादा छिपाये रखने की कोशिश में लग गये थे। परन्तु वह जितना ही छिपाते, मेरी उत्सुकता उतनी ही बढ़ती जाती। उन्होंने इसे देवी के आसन तले पिटारी में छिपाया था। मैंने पता लगा लिया और दूसरी चाबी बनवाकर थोड़ा-थोड़ा रोज़ नकल करने लगा। नकल पूरी होते ही मैं गुप्त धन की खोज में घर से निकल पड़ा। मैं भी अनाथा पत्नी और एक शिशु-संतान छोड़ आया था। आज उनमें से कोई भी जीवित नहीं है।

"जाने कितने देश-देशान्तर घूमे। उनके विस्तृत वर्णन की कोई आवश्यकता नहीं। यह सोचकर कि संन्यासी-दत्त लिखन का भेद कोई संन्यासी ही बता सकेगा; मैंने अनेक संन्यासियों की सेवा की है। इस प्रकार कितने ही वर्ष काट दिये;—पल-भर को भी मेरे मन को न कोई सुख था, न शान्ति थी।

"अन्त में पूर्व-जन्म में अर्जित पुण्य के बल पर कुमाऊँ के पहाड़ों में बाबा स्वरूपानन्द स्वामी के दर्शन हुए। उन्होंने मुझे उपदेश दिया कि 'बाबा', तृष्णा को दूर करो; तभी तुम्हें विश्वव्यापी अक्षय सम्पद् स्वयं ही मिल जायगी।

"उन्होंने मेरा अन्तर्दाह शीतल कर दिया। उनके प्रसाद से आकाश का आलोक और धरती की श्यामलता मेरे लिए राजसम्पद् हो उठी। एक दिन जाड़ों की सन्ध्या को पर्वत के शिला-तला पर परमहंस बाबा की धूनी जल रही थी। मैंने अपना वह काग़ज़ उसी धूनी की अग्नि को समर्पित कर दिया। बाबा मुसकाये। उस समय तो मैं उस मुसकान का अर्थ समझ नहीं पाया, पर आज अच्छी तरह समझ गया हूँ। मुसकान के पीछे उनका मन का भाव निश्चय ही यह था कि काग़ज़ जला डालना तो अत्यन्त सहज है, पर वासना को भस्म कर डालना उतना सहज काम नहीं।

"उस काग़ज़ के निश्चिह्न हो जाने पर मेरे मन को लपेटे रखने-वाला नागपाश मानो सम्पूर्ण रूप से खुल गया। चित्त मुक्ति के अपूर्व

आनन्द से परिपूर्ण हो गया। मुझे लगा कि अब से संसार में मेरे लिए कोई भय नहीं रहा, मैं दुनिया में कुछ भी नही चाहता।

"उसके कुछ ही समय बाद परमहंस बाबा का संग छूट गया। उन्हें बहुत खोजा पर कही उनका कोई पता न मिला।

"फिर मैं संन्यासी हो गया और निरासक्त चित्त से भ्रमण करने लगा। अनेक वर्ष बीत गये। उस लिखन की बात लगभग भूल ही गया था।

"तभी एक दिन मैंने इस धारागोल वन के एक टूटे मन्दिर में आश्रय लिया। दो-एक दिन रहने के बाद देखा कि मन्दिर की दीवारों पर जगह-जगह नाना प्रकार के चिह्न उत्कीर्ण है। ये चिह्न मेरे पूर्व-परिचित चिह्न थे।

"अब इस बात में कोई सन्देह नही रहा कि ये चिह्न उसी वस्तु का सुराग दे रहे हैं, जिसकी खोज में मैं इतने दिन भटकता रहा था। सोचा, अब यहाँ रहना ठीक नहीं, अब इस वन को छोड़ चलूँ सोई ठीक रहेगा।"

"किन्तु छोड़ जाना सम्भव न हुआ। जी हुआ कि देख ही क्यों न लिया जाय कि आखिर है क्या चीज़! कौतूहल को पूरी तरह निवृत्त करने के बाद ही जाना ठीक होगा। चिह्नों को लेकर बहुत सिर-खपाई की, पर कोई फल न मिला। बार-बार पछतावा होने लगा कि उस कागज को जला क्यों डाला था! वह रहता तो कौन-सी क्षति हो जाती!

"तभी जन्म-ग्राम की यात्रा की। अपने मौरूसी घर की चरम दुरवस्था देखकर सोचा कि मैं संन्यासी हूँ, धन-रत्न से मुझे कोई मतलब नही, पर ये ग़रीब तो गृही हैं, इनके लिए उस गुप्त धन का उद्धार कर देने में क्या दोष है?

"यह पता तो मुझे था ही कि वह लिखन कहाँ है, उसे ले लेने में मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई।

"तब से पूरे साल-भर से इस विजन वन में उस कागज़ को लिये

गणना और खोज करने में लगा रहा हूँ। और कोई चिन्ता थी नहीं, बारम्बार बाधा पाकर आग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता गया और मैं उन्मत की भाँति अहोरात्र इसी एकमात्र अध्यवसाय में निविष्ट रहा।

"यह भी नहीं जान पाया कि कब से तुम मेरा पीछा करने लगे। मेरी सहज अवस्था में तुम मुझसे छिपे कदापि नही रह सकते थे। पर मैं तो तन्मय था, बाहर की घटना मेरी दृष्टि को आकृष्ट कर ही नही सकती थी।

"फिर जो खोज रहा था, वह अभी-अभी मिल गया है। यहाँ पर जो-कुछ है, वह पृथ्वी के किसी भी राजराजेश्वर के भण्डार तक में नही है। बस एक और संकेत रह गया है, जिसका भेदन कर लेने पर वह अपार धन मिल जायगा।

"यही संकेत सबसे दुरूह भी है। पर मन-ही-मन मैंने इसका भी भेद पा लिया है। इसीलिए 'पा लिया' की पुकार लगा बैठा था। चाहूँ तो पल-भर में स्वर्ण-माणिक्य के उस भण्डार में पहुँच जा सकता हूँ।"

मृत्युंजय ने शंकर के पैर पकड़ लिये और कहा, "तुम संन्यासी हो, तुम्हें धन की कोई आवश्यकता नही है। उस भण्डार में मुझे ले चलो। मुझे वंचित न करो।"

शंकर बोले, "आज मेरा अन्तिम बन्धन भी छिन्न हो गया है। पत्थर फेंककर मुझे मारने के तुम्हारे प्रयास ने मेरे शरीर को तो कोई आघात नहीं पहुँचाया, पर मेरे मोहावरण को उसने सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया है। आज मैंने तृष्णा की कराल मूर्ति के दर्शन कर लिये हैं। अपने गुरु परमहंस-देव की निगूढ़ प्रशान्त मुसकान ने इतने दिनों के बाद मेरे अन्तर के कल्याण-दीप में अनिर्वाण आलोक-शिखा जला दी है।

मृत्युंजय ने शंकर के पैर पकड़ फिर बड़े ही कातर स्वर में कहा, "तुम मुक्त पुरुष हो, पर मैं मुक्त नहीं, न मुझे मुक्ति की चाह है, मुझे इस ऐश्वर्य से तुम वंचित नहीं कर सकते।"

संन्यासी बोले, "वत्स, तब तो तुम अपना यह लिखन ले लो और धन का पता लगा सको तो धन भी ले जाओ।"

और अपनी घड़ी एवं लिखनपत्र मृत्युंजय को सौंपकर संन्यासी चले गये। मृत्युंजय बोला, "मुझपर दया करो, यों छोड़ मत जाओ, मुझे गुप्त धन दिखाते जाओ।"

कोई उत्तर नहीं मिला।

मृत्युंजय छड़ी का सहारा लेकर सुरंग से निकलने की कोशिश करता रहा;—पर मार्ग अत्यन्त जटिल गोरखधंदे जैसा था, पग-पग पर बाधाएँ थी। अन्त में घूमते-घूमते थक जाने पर वह कहीं एक जगह सो रहा और सोते ही उसे गाढ़ी नींद ने धर दबाया।

जागने पर यह जानने का कोई उपाय न था कि इस समय रात है या दिन, या रात-दिन का कौन-सा समय है। भूख बड़े ज़ोर की महसूस हुई। मृत्युंजय ने चादर के खूंट से चिवड़ा खोलकर भूख मिटायी। वह फिर एक बार टटोल-टटोलकर सुरंग से बाहर निकलने की राह ढूंढ़ने लगा। स्थान-स्थान पर बाधा पाने के बाद हार मानकर बैठ रहा और चिल्लाकर पुकार उठा, "हे संन्यासी, तुम कहां हो?"

उसकी पुकार सुरंग की सभी शाखा-प्रशाखाओं से बारम्बार प्रतिध्वनित होने लगी। अनति-दूर से उत्तर आया, "मैं तुम्हारे पास में ही हूँ। बोलो, क्या चाहिए?"

मृत्युंजय ने कातर-स्वर में कहा, "कृपा करके दिखा जाओ कि वह धन कहां है।"

पर इस प्रार्थना के बाद फिर कोई उत्तर नहीं मिला। मृत्युंजय ने बारम्बार पुकारा, पर किसीने उसकी पुकार नहीं सुनी।

घड़ी-पहर आदि द्वारा अविभक्त उस भूतलगत चिररात्रि में मृत्युंजय ने एक बार और सो लिया। नींद पूरी करने पर फिर उसी अंधकार में जगा। चिल्लाकर पुकारा, "अहो, तुम हो क्या?"

निकट से ही उत्तर मिला, "यहीं हूँ। क्या चाहिए?"

मृत्युंजय बोला, "और कुछ नहीं चाहिए, इस सुरंग से निकाल

दो।"

संन्यासी ने पूछा, "तुम्हें धन नहीं चाहिए ?"

मृत्युंजय ने कहा, "ना, नहीं चाहिए।"

इस उत्तर पर चकमक के रगड़े जाने की आवाज़ हुई और कुछ देर बाद रोशनी जल उठी। संन्यासी बोले, "फिर तो चलो मृत्युञ्जय, इस सुरंग से बाहर चलें।"

मृत्युञ्जय ने कातर स्वर में कहा, "बाबा, तो क्या सब किया-कराया बेकार जायगा ? इतने कष्ट के बाद भी उस धन की प्राप्ति नहीं होगी ?"

इतना कहना था कि मशाल बुझ गयी। मृत्युञ्जय बोला, "कैसे निष्ठुर हो ?" और वह वहीं बैठकर सोच में पड़ गया। समय का परिमाण न था, अन्धकार का कोई अन्त न था। मृत्युञ्जय को इच्छा होने लगी कि अपने तन-मन के सारे बल-बूते से इस अंधकार को चुर-चूर कर डालूं। आलोक, आकाश और दृश्य विश्व-छवि के लिए उसके प्राण व्याकुल हो उठे। बोला, "हे संन्यासी, हे निष्ठुर संन्यासी, मैं धन नही चाहता, मेरा उद्धार करो।"

संन्यासी ने कहा, "धन नही चाहते ? तो फिर मेरा हाथ पकड़ो। मेरे साथ चलो।"

इस बार मशाल नही जली। एक हाथ में छड़ी और दूसरे में संन्यासी का उत्तरीय पकड़े हुए मृत्युञ्जय धीरे-धीरे चलने लगा। बड़ी देर तक अनेक आँकी-बाँकी राहों से घूमते-घामते एक जगह पहुँचकर संन्यासी ने कहा, "ठहरो।"

मृत्युञ्जय रुक गया। उसके बाद एक ज़ंग खाये लोहे के द्वार के खुलने का बड़ा ही उत्कट शब्द सुनाई पड़ा। कुछ देर और बाद मशाल जली तो आँखें चौंधियाने लगीं। कैसा आश्चर्यजनक दृश्य था! चारों ओर की दीवारों पर सोने के मोटे-मोटे पत्तर भूगर्भ-रुद्ध कठिन-सूर्यालोक-पुञ्ज की तरह स्तर पर स्तर सजे हुए थे। मृत्युञ्जय की आँखें जलने लगीं। वह पागल की तरह चिल्ला उठा,

"यह सोना मेरा है !—सारा मेरा है ! इसे छोड़कर मैं कदापि नही जा सकता।"

संन्यासी ने कहा, "अच्छा, मत छोड़ना। यह रही मशाल। और साथ में यह सत्तू, चिवड़ा और इस बड़े लोटे में एक लोटा पानी रखे जा रहा हूँ।"

देखते ही देखते सन्यासी बाहर चले गये और स्वर्ण-भण्डार का लौह-द्वार बन्द हो गया।

मृत्यञ्जय बारम्बार उस सुवर्ण-पुञ्ज को छू-छूकर पूरे घर में घूमता रहा। छोटे-छोटे सुवर्ण-खण्ड खीचकर फ़र्श पर पटकता, गोद, में लेता, एक पर एक को पटक-पटककर बजाता और अपने सर्वाङ्ग पर फेर-फेर कर सुवर्ण के स्पर्श का अनुभव करता। इस तरह बड़ी देर तक सोने से खेलते-खेलते जब थककर चूर हो गया तो एक बड़ा-सा स्वर्ण-पत्र बिछाकर उसपर लेटा और लेटते ही गाढ़ी नीद में सो गया।

जगा तो फिर वही दृश्य। चारों ओर सोना ही सोना जगमगा रहा था। सोने के सिवा वहाँ और कुछ नही था। मृत्युञ्जय सोचने लगा, "पृथ्वी पर इस समय शायद सवेरा हुआ होगा, सभी जीव-जन्तु आनन्द में जाग पड़े होंगे। मेरे घर पर पोखरे के किनारे बाग़ से स्निग्ध गंध उठ रही होगी !" वह चिर-परिचित स्निग्ध गन्ध मानो कल्पना में आते ही उसकी नासिका में प्रवेश करने लगी। वह मानो अपनी आँखों से यह स्पष्ट देखने लगा कि बत्तखें डोलती-डोलती और कलरव करती-करती सवेरे की धूप से चमकते पोखरे से उतर आयी हैं और घर की महरी वामा आँचल को कमर पर फेंटे की तरह कसकर ऊपर को उठे हाथ की हथेली पर पीतल-काँसे की थालियों-कटोरियों का एक पूरा अम्बार लिये घाट पर उपस्थित हो गयी है।

मृत्युञ्जय दरवाजे पर चोटें दे-देकर चिल्लाने लगा, "हे संन्यासी ठाकुर, हो क्या ?"

दरवाजा खुल गया। संन्यासी ने पूछा, "क्या चाहिए?"

मृत्युञ्जय बोला, "बाहर जाना चाहता हूँ। पर साथ में एकाध-पत्तर सोना भी नहीं ले जा सकूँगा?"

संन्यासी ने कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने नयी मशाल जलायी एक कमण्डल में पानी रख दिया और उत्तरीय से कई मुट्ठी चिवड़ा फ़र्श पर रखकर बाहर चले गए। द्वार बन्द हो गया।

मृत्युञ्जय ने सोने का एक पतला-सा पत्तर लिया और उसे मोड़-मोड़कर तोड़ने लगा। इस तरह तोड़ते-तोड़ते उसके खण्ड-खण्ड कर दिए और उन टुकड़ों को ढेलों की तरह पूरे घर में फेंक-फेंककर खेलने लगा। कभी किसी पत्तर पर दाँत गड़ाकर निशान बनाता तो कभी कोई पत्थर फ़र्श पर पटक कर उसपर बारम्बार पदाघात करता। मन-ही-मन यह सोचकर खुश होता कि दुनिया में ऐसे कितने सम्राट् होंगे जो सोने की इस तरह फेंकाफेंकी कर सकते हों? मृत्युञ्जय पर मानो कोई प्रलय-हठ सवार था। उसका जी चाहने लगा कि इस राशि-राशि सोने को चूर-चूर करके धूल की तरह झाड़ू से बुहार फेंके और इस तरह दुनिया के सारे सुवर्ण-लुब्ध राजा-महाराजाओं की अवज्ञा करे।

जब तक शरीर में दम रहा, तब तक वह इसी तरह सोने की उठा-पटक करता रहा और फिर पूरी तरह से थककर सो रहा। जगा तो फिर वही दृश्य, वही चारों ओर सोने के स्तूप! वह चिल्ला-चिल्लाकर दरवाजा पीटने लगा, "हे संन्यासी, यह सोना मुझे नहीं चाहिए,—सोना नहीं चाहिए!"

पर दरवाजा नहीं खुला। पुकारते-पुकारते उसका गला बैठ गया, पर दरवाजा नहीं खुला। वह सोने के पिण्ड ले लेकर दरवाजे पर मारने लगा, पर कोई फल न हुआ। मृत्युञ्जय का जी बैठने लगा: "तो क्या अब संन्यासी फिर नहीं आयेगा? तो क्या इस स्वर्ण-कारा में पल-पल तिल-तिल सूख-सूख कर मरना होगा?"

फिर तो सोने की ढेरियाँ देख-देखकर उसके मन में आतंक होने

लगा। विभीषिका के अशब्द कठिन हास की तरह सोने के स्तूप चारों ओर अचल भाव से पड़े थे,—उनमें न कोई स्पन्दन होता था न परिवर्तन ! मृत्यञ्जय के कँपकँपाते हुए आकुल हृदय के साथ उन स्तूपों का कोई सम्पर्क नही था, कोई वेदना-सम्बन्ध नही था। सोने के उन पिण्डों को आलोक की, आकाश की, पवन की, प्राण की, मुक्ति की कोई आवश्यकता नही थी। वे तो इस चिरन्तन अन्धकार में चिरन्तन उज्ज्वलता और काठिन्य का वरण किये अचल पड़े हैं।

धरती पर साँझ का झुटपुटा उतरा होगा ? आहा, गोधूलि की वह स्वर्णिमा ! वह स्वर्ण केवल क्षण भर के लिए आँखें जुड़ाकर अंधकार के अचल में क्रन्दन करता हुआ विदा ले लिया करता है। उसके बाद संध्या-तारा कुटीर के प्राङ्गण को एकटक निहारा करता है। वह गोंठ में दीया जलाकर घर के कोने में सभा-बाती स्थापित करती है। मन्दिर में आरती का घण्टा-घड़ियाल बज उठता है।

गाँव-घर के अति तुच्छतम जीवन-व्यापार भी उस समय मृत्युञ्जय की कल्पना-दृष्टि में उज्ज्वलतम हो उठे। अपना भोला कुत्ता याद आया जो साँझ पड़े पर आँगन के एक कोने में दुम-थूथन एक करके सोया रहता था। यह निरीह कल्पना भी उसे व्यथित करने लगी। धारागोल का वह मोदी इस समय दीया बढ़ाकर, दूकान पर टट्टर बाँधकर धीरे-धीरे गाँव के अपने घर की ओर जा रहा होगा, ब्यालू के लिए ! इस यादपर उसे लगा कि मोदी भी कितना सुखी है ! कौन जाने आज कौन-सा वार है। यदि रविवार हो तो अब तक हाटिये अपने-अपने घर लौट रहे होंगे, साथ-छूटे साथी को ज़ोर-ज़ोर से पुकार रहे होंगे, दल बाँध-बाँध कर नाव से नदी पार कर रहे होंगे। किसान मैदानी पगडंडियों से, फ़सल-खेतों की मेंड़ों से, बाँस के सूखे पत्तों से खचित देहाती आँगन के किनारों से, हाथ में एकाध मछली लटकाये, सिर पर टोकरी लिए, अँधेरे आकाश में भरे तारों के क्षीण आलोक में ग्राम से ग्रामान्तर को जा रहे होंगे।

धरती के ऊपरी स्तर की इस विचित्र, विराट्, चिरचंचल जीवन-

यात्रा में तुच्छतम और दीनतम होकर भी अपनी जीवन-धारा को मिला देने के लिए लोकालय का आह्वान मिट्टी के शत-शत स्तरों को भेदकर उसके पास पहुँचने लगा। उसके जी में होने लगा कि 'केवल पल भर के लिए भी यदि एक बार अपनी उस श्यामा जननी धरित्री की धूलि-गोद में, उस उन्मुक्त आलोक-धनी नीले अम्बर के तले, तिनकों-पत्तों की गंध से सुरभित उस प्राण-वायु से अपने फेफड़ों को भरकर केवल एक भी अन्तिम निश्वास ग्रहण करके मरण का वरण कर सकूँ तो जीवन सार्थक हो जायगा!'

इतने में दरवाजा खुल गया। संन्यासी ने उस घर में प्रवेश किया और पूछा, "मृत्युञ्जय, क्या चाहते हो?

मृत्युञ्जय हड़बड़ाकर बोल उठा, "मैं और कुछ नहीं चाहता, कुछ नहीं चाहता,—मैं तो बस इस सुरंग से, इस अन्धकार से, इस गोरखधन्धे से, इस सोने की गारद से बाहर हो जाना भर चाहता हूँ। मैं आलोक चाहता हूँ, आकाश चाहता हूँ, मुक्ति चाहता हूँ!"

संन्यासी ने कहा: "यहाँ पर इस स्वर्ण-भण्डार से कहीं अधिक मूल्यवान् एक रत्न-भण्डार भी है। उसमें नहीं जाओगे?"

मृत्युञ्जय ने कहा, "नहीं, मुझे और कहीं नहीं जाना।"

संन्यासी ने पूछा,"एक बार देख आने का कौतूहल भी नहीं है?"

मृत्युञ्जय ने कहा, "नहीं, मैं देखना भी नहीं चाहता। मुझे कौपीन पहन कर भीख माँगते फिरना भी पड़े, तो भी मैं यहाँ पल भर के लिए भी रुकना नहीं चाहता।"

संन्यासी बोले, "अच्छा तो आओ!"

मृत्युञ्जय का हाथ पकड़कर वे उसे उस गहरी बावली के पास ले गये। उसके हाथ में वह लिखन-पत्र देकर बोले, "यह लेकर तुम क्या करोगे?"

मृत्युञ्जय ने उस पत्र को टुकड़े-टुकड़े करके उसी कुएँ में फेंक दिया।

अनु० : २६ चैत्र १८८३ शा०

जूता आविष्कार

बोले हबू, "सुनो हे गोबू राय,
इसी सोच में बीती सारी रात :
धरती पर पग धरते क्यों लग पाय
मलिन धूल पग में ?—यह कैसी बात !
तुमको वेतन देना हुआ फ़िज़ूल,
तुम्हें न चिन्ता : क्या राजा के काज !
मेरी मिट्टी मुझे लगाये धूल,
यह कैसी गड़बड़ है मेरे राज !
झटपट इसका कोई करो इलाज !
नही, गिरेगी, एक-एक पर गाज !'

सुनते ही सूखी गोबू की जान,
डरके मारे हुआ घमाघम गात।
पण्डित फ़क, मन्त्री की मति हैरान,
फल भर नींद न आयी सारी रात।
चौके ठंढे, चूल्हे चढ़ी न हाँड़ी,
रोना-धोना शुरू हो गया घर-घर।
आँसू-गीली करके उजली दाढ़ी
गोबू पड़े हबू के चरण-कमल पर :
"पग में अगर न लग पायेगी धूल,
कहाँ मिलेगी चरणधूलि सुखमूल !"

सुनकर राजा ने सोचा भुक-भूल,
बोले आखिर : "बात कही अलबत्त !
लेकिन पहले दूर करो यह धूल,
फिर विचारना चरणधूलि का तत्त।
चरणधूलि न मिली तो भी क्या रे,
मोटे-मोटे वेतन करते भोग
व्यर्थ मुटाते हो इतने सारे
वैज्ञानिक पदवी-धारी तुम लोग !
आगे कर तो लो आगे का काम,
फिर विचार लेना, जो हो परिणाम।"

अँधियारा छाया सुनकर आदेश,
घबराकर जुट पड़ा जतन में मन्त्री।
बुलवाये छनवाकर देश-विदेश
सारे ज्ञानी, गुणी, यान्त्रिक, तन्त्री।
बैठे सब ऐनकें लगा। उन्नीस
पीपों की सुड़की सारी नसवार।
बहुत सोचकर कहा निपोरे खीसें :
"धूल न हो तो अन्न न हो, सरकार !"
राजा बोले : "बिना धूल के नाज
नहीं हुआ तो तुम पण्डित किस काज !"

सबने मिलकर युक्ति निकाली आखिर,
झाड़ू लाये साढ़े सतरह लाख।
उड़ी धूल से धूसर राजा का सिर,
धूल-धूल हो गयी देह, मुँह, आँख।
धूल, कि आँखों का खुलना दुश्वार;
धूल-मेघ में सूरज हुआ अलोप।

धूल-फाँस में खाँस मरा संसार,
डगर-धूल ने लिया नगर को तोप।
राजा बोले, "धूल हुई क्या दूर,
उनटे सारा जग है-धूरमधूर!

छुटे वेग से मशक दबाये काँख
जहाँ-तहाँ इक्कीस लाख भिश्ती।
तालाबों में बची पाँक ही पाँक,
नदियाँ सूखी, चले कहाँ किश्ती!
जलचर जल के बिना मरे लाचार,
थलचर डूब मरे थल के ऊपर।
कीचड़ में धँस डूब गया व्यापार,
देश उजाड़ हुआ, फैला वह ज्वर।
राजा बोले, "गधे कहीं के लीचड,
किया धूल के बदले कीचड़-कीचड़!"

फिर बुलवाये गये सभी गुणवन्त,
बैठ लगे करने; सलाह-मशविरे—
पर न मिल सका गूढ़ प्रश्न का अन्त,
आँखों में सरसों फूली, सिर फिरे।
बोले, "चटाइयाँ बिछवा जग भर में
फर्श लगाकर करो धूल को कैद।"
कोई बोला, "राजा को रख घर में
छुट्टी पा लो, रहे न रोग, न बैद।
धरती पर यदि धरें ही नहीं पाँव,
धूल लगेगी राजा को किस ठाँव?"

राजा बोले, "बात कही अनुकूल,
पर मेरे मन खटक रही यह बात :
राजपाट सब हो जायेगा धूल,
धूलि-भीत यदि बंद रहा दिन-रात।"
बोले सभी, "चमारों का यह काम,
चमड़े से मढ़वा दो पृथ्वीतल।
धूलि-गही थैली में ढँक दो; नाम
महाराज का युग-युग रहे अटल।"
बोली सभा : "मिले यदि कुशल चमार,
चुटकी के बजते हो बेड़ा पार!"

राजा के चर छान मरे संसार
छोड़-छाड़ सब काम-धाम आराम,
लेकिन कहीं न मिला सुयोग्य चमार,
और न ही पृथ्वी मढ़ने भर चाम।
आया एक चमारों का सरदार,
मुसकाकर धीरे बोला वह वृद्ध,
"बख़शें तो कुछ अरज करूँ सरकार,
सहज मनोरथ हो जायेगा सिद्ध।
अपने चरण मढ़ा लें यदि सरकार,
पृथ्वी मढ़ने की न रहे दरकार!"

राजा बोले, "इतनी सीधी सिद्धि!
सोच मरे जग के सबके सब पण्डित!"
मन्त्री बोले, "करो शूल में विद्ध
इस पाजी को अथवा कारा-दण्डित!"
राजा के पग चर्म-आवरण में
मढे वृद्ध ने भक्ति से विनय से;—

मन्त्री बोले, "मेरे भी मन में
यह गुर था, तूने जाना कैसे ?"
उस दिन से जूते का चला रिवाज;—
धरा बची, गोबू पर गिरी न गाज ।

१३०४ बं०

अनु० : २३ फाल्गुन १८८२ श०

लोहा कठिन कठिन निद्रा में पड़ा था अचेतन

लोहा कठिन, कठिन निद्रा में पड़ा था अचेतन,
हमने नींद भगायी रे! (उसकी नींद...)
लाख युगों के अंधकार में बंद-बंद था गोपन,
उसकी शक्ति जगायी रे! (हमने शक्ति...)
पोस हाथ का मान गया है,
जो कहलाओ सो कहता है,—
जनम-जनम की चुप्पी उसकी दूर भगायी रे!
छूट चला जड़ विश्व-विजय पर
जगम हो, हमने निर्भय-कर
रास सँभाली, गति से उसकी हुई सगाई रे!

अनु : ०१६ फाल्गुन १८८२ श०

बम्बई शहर

कल शाम को निकला था कि बम्बई शहर को एक नजर देख आऊँ। पहली झाँकी देखने के बाद ही लगा कि बम्बई शहर की एक विशेष मुखाकृति है। कलकत्ता की तो मानो कोई मुखाकृति है ही नही। वह तो मानो जैसे-तैसे यों ही जोड़-तोड़ करके तैयार कर दिया गया है।

असल बात यह है कि बम्बई शहर को आकार दिया है समुद्र ने। समुद्र ने अपनी अर्ध-चन्द्राकार वेला-भूमि से बम्बई को लपेट रखा है। समुद्र का आकर्षण बम्बई की सभी सड़कों और गलियों के भीतर क्रियाशील है। मुझे लगता है कि समुद्र मानो एक विराट् हृदय-पिण्ड है। वह बम्बई की प्रत्येक शिरा-उपशिरा में प्राण-धारा भरता और प्रत्येक से प्राणधारा खींचता रहता है। समुद्र ने सदा से इस शहर का मुँह विशाल बाह्य-जगत् की ओर किये रखा है।

प्रकृति के साथ कलकत्ता के मिलन का एक सूत्र गंगा थी। इस गंगा की धारा ही सुदूर की वार्ता को सुदूर रहस्य की ओर बहा ले जाने का खुला मार्ग थी। शहर की यही एक ऐसी खिड़की थी, जिससे बाहर झाँकने पर लगता था कि सारा-जगत् शहर के इस लोकालय में ही बद्ध नही है। पर गगा की वह प्रकृतिक महिमा अब नही रही। उसके दोनों तटों ने उसे ऐसी चुस्त पोशाक पहना दी है और उसकी पेटी इतनी कसकर बाँध दी है कि गंगा ने भी लोकालय के ही प्यादे का रूप धारण कर लिया है। अब यह समझने की भी कोई सूरत नही रही कि गधा-बोटों पर पटसन की गाँठें लाद-लादकर

बाहर भेजने के सिवा और भी कोई काम कभी था उसका। जहाजों के मस्तूलों के कण्टक-वन में मकर-वाहिनी के मकरों की सूंढें लज्जा के मारे न जाने कहां जा छिपी हैं।

समुद्र की विशेष महिमा यह है कि मनुष्य के काम तो वह कर देता है, पर मनुष्य की दासता का पट्टा वह अपने गले में नहीं पहनता। पटसन का कारोबार उसके विराट् वक्षस्थल के नीलकान्त मणि को ढंक नही सकता। इसी से इस शहर के किनारे समुद्र की मूर्ति अक्लान्त है। एक ओर वह मनुष्य के काम को सारे संसार में फैलाये दे रहा है, तो दूसरी ओर वह मनुष्य की श्रान्ति भी दूर करता है। घोरतम कर्म के सम्मुख ही उसने एक विराट् अवकाश भी जुटा रखा है।

इसीलिए जब मैंने देखा कि शत-शत नर-नारी, साज-सिंगार करके समुद्र के तट पर जा बैठे हैं, तो मुझे सचमुच बड़ा अच्छा लगा। तीसरे पहर के अवकाश की घड़ियों में समुद्र की पुकार को कोई भी अनसुनी नहीं कर सकता। समुद्र की गोद के पास इनका काम है, और समुद्र की गोद के पास इनका आनन्द है। हमारे कलकत्ता शहर में ले-देकर एक इडेन गार्डेन है, पर वह भी कृपण घर की लड़की है, उसके कण्ठ में आह्वान नही है। वह राजपुरुषों का बनाया हुआ उपवन है: वहां न जाने कितने शासन-आदेश हैं, न जाने कितने विधि-निषेध है। लेकिन समुद्र तो किसी का बनाया हुआ नही है न! उसे बाड़ों से घेर रखने की गुंजायश ही नहीं है। इसी से समुद्र के किनारे बम्बई शहर का ऐसा अपूर्व नित्य-उत्सव हुआ करता है! कलकत्ता में कही भी तो इस असंकोच आनन्द का तनिक भी स्थान नही है।

जो देखकर जी सबसे अधिक जुड़ाता है, वह है यहां के नर-नारियों का मेला। नारी-वर्जित कलकत्ता का दैन्य कितना बड़ा है, सो यहां आने पर ही देखा जा सकता है। कलकत्ता में हम मानव को आधा ही देखते हैं, इसलिए मानव का आनन्द-स्वरूप हम देख नहीं

गये। और यह निश्चय जानिये कि इस [illegible] का एक कारण भी है

यह अस्वाभाविक निश्चय ही मानव के मन को संकोच डालता है

इसे उसके स्वाभाविक विकास से वंचित करता है। इसलिए मैं इन-

कल-कारखानों का सम्पूर्ण पक्षपाती नहीं हूँ। [illegible] के [illegible]

होने पर भी एक ऐसी दशा अस्वाभाविक होती है, जैसे पेट न

भरने वैसे मनुष्य-जीवन [illegible] को और कोई हो ही नहीं सकती

जिस कुल के हम उन्हें ही पाते हैं। यह इन्हें इनके [illegible] अधिकार कर

[illegible] है, पर इनकी [illegible] बन होती रहती है। यह एक

ऐसी व्यथा है, जिसके सदैव को कोई [illegible] ही नहीं हो सकती।

घर के कोने में तो हम घर और नगरों [illegible] होकर ही रहते हैं, पर उस

[illegible] को सम्पूर्ण [illegible] जा सकता है? बाहर [illegible] के लिए

जो उदार [illegible] पड़ा हुआ है, वहाँ सरल आनन्द में हमारी आपसी

देखादेखी और [illegible] क्या किसी दिन भी नहीं होगी?

हमारी गाड़ी [illegible] पहाड़ के ऊपर एक उद्यान के सामने आकर खड़ी हो गयी। छोटे उद्यान को घेरे हुई चारों ओर बेंचे पड़ी हैं। वहाँ भी यही देखा कि कुल-नारियाँ अपने सगे-सनेहियों के साथ बैठी वायु-सेवन कर रही हैं। सिर्फ पारसी रमणियाँ ही नहीं, माथे पर सिंदूर के गोल टीके लगाये मराठी स्त्रियाँ भी बैठी हैं;—मुखड़ों पर कैसी प्रशान्त प्रसन्नता है! उनके मन में यह चिन्ता लेशमात्र भी नहीं है कि अपना अस्तित्व जो एक विषम विपत्ति है, उसे चारों ओर के लोगों की दृष्टि से बचाकर किस तरह रखा जाय! मैंने मन ही मन सोचा कि देश के सिर से कितने बड़े संकोच का बोझ उतर गया है, और उससे यहाँ की जीवन-यात्रा हमारी अपेक्षा कितने पहलुओं से सहज और सुन्दर हो उठी है! पृथ्वी की मुक्त वायु और आलोक में संचरण के सहज अधिकार का लोप कर डालने पर मनुष्य अपने लिए आप ही कैसा अस्वाभाविक विघ्न हो उठता है, सो हमारे देश की नारियों की सदा-संकोचमय असहायता देखकर सहज ही समझा जा सकता है। रेलवे स्टेशन पर हमारी स्त्रियों को देखिये

तो उनके प्रति समस्त देश की न जाने कब से चली आ रही निष्ठुरता स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष हो उठती है। माथेरान के इस उद्यान में घूमते समय मैंने अपने कलकत्ता के वीडन पार्क और गोलदिग्घी को याद किया :—कैसी कमबख्त कृपणता है उनकी भी !

पुष्प-वन में मधु-संचय करती फिरती तितलियाँ कोई बाबूगिरी करती नहीं घूमती, बल्कि वास्तव में वे तो कार्य-व्यस्त होती हैं ! लेकिन कार्य-व्यस्त होने का यह मतलब नहीं कि वे दफ़्तर जाने की काली शेरवानी पहनती हों। यहाँ की जनता की वेशभूषा में नाना रंगों का समावेश देखकर मुझे यही बात याद आती है। मुझे तो ऐसा नहीं लगता कि कार्य-व्यस्तता को पहन-ओढ़कर अपने आपको श्रीहीन कर लेना कोई बिलकुल जरूरी है। इनकी पगड़ियों पर, कोरों-किनारियों पर और स्त्रियों की साड़ियों पर जो वर्ण-छटा दिखाई पड़ती है, उसमें एक जीवनानन्द प्रगट होता है और वह जीवन के आनन्द को जाग्रत करती है। बंगाल-देश छोड़ने के बाद इतनी दूर की यात्रा में मैं हर कहीं यही देखता आया हूँ। किसान खेती कर रहा है तो क्या, उसके सिर पर पगड़ी और बदन पर मिरज़ई जरूर है। स्त्रियों की तो कोई बात ही नहीं। अपने से यहाँ वालों का यह बाहरी प्रभेद मुझे सामान्य प्रभेद नहीं लगा। कारण, इसी प्रभेद का अवलम्बन करके मेरे मन में इनके प्रति एक श्रद्धा-भाव का संचार हुआ। ये लोग अपनी अवज्ञा नहीं करते, परिच्छन्नता के द्वारा अपने आपको एक विशिष्टता प्रदान करते हैं। इतना तो मनुष्य का एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य ही है। कम-से-कम इतना आवरण, इतनी सज्जा भी प्रत्येक मनुष्य देह पर न रहे तो मनुष्य की रिक्तता अत्यन्त कु-श्री दिखाई देने लगती है। अपने समाज को कुदर्शन-दीनता से बचाने का प्रयास यदि प्रत्येक व्यक्ति न करे तो एक कितनी बड़ी शिथिलता समस्त देश को विश्व की निगाहों में अपमानित किये रखती है। यह सीधी-सी बात भी यदि हम समझ नहीं पाते तो कारण यही है कि हम इतने आदी हो गये हैं कि हममें कोई हिस बाकी ही नहीं रहा।

बम्बई शहर की एक और चीज अत्यन्त ही बढ़े-चढ़े रूप में दिखाई पड़ी। वह है यहाँ के देशी लोगों की धनशालिता। यहां के बड़े-बड़े महलों पर न जाने कितने ही पारसी, मुसलमान और गुजराती बनियों के नाम खुदे मिले। इतने नाम कलकत्ता में कहीं भी दिखाई नहीं पड़ते। वहाँ का धन नौकरी और जमींदारी का धन है। इसीलिए वह धन बड़ा ही म्लान है। जमींदारी की दौलत बँधे पोखरे के पानी-जैसी होती है। वह केवल बरतने से क्षीण और विलास से दूषित होती रहती है। उसमें मनुष्य की शक्ति का प्रकाश नहीं दिखाई पड़ता, धनागम की नयी-नयी तरंग-लीला दिखाई नहीं पड़ती। इसलिए हमारे बंगाल में जो भी थोड़ा-बहुत धन-संचय है, उसमें एक चरम भीरुता के दर्शन होते हैं। मारवाड़ियों, पारसियों, गुजरातियों, पंजाबियों आदि में दान की मुक्तहस्तता दिखाई पड़ती है, परन्तु बंगदेश-वासी सबसे कम दान करते हैं। हमारे बंगाल की चन्दा-बही हमारे बंगाल की गाय-जैसी ही होती है, —उसके चरने को स्थान इतना कम है कि 'है' के बजाय 'नहीं है' कहना ही शायद अधिक उपयुक्त होगा। हमारी बंगभूमि धन नाम की वस्तु का सचेतन अनुभव कर ही नहीं सकी। इसलिए हमारे देश की कृपणता भी कुरूप है, विलास भी वीभत्स है। यह देखकर आनन्द का बोध होता है कि यहां के धनियों की जीवन-यात्रा सरल और धन की मूर्ति उदार है।

अनु० : २८ चैत्र १८८३ श०

सिर का सौदा

(महावस्त्वयदान)

कोसल-राजा सा न और है,
जग भरा उनका जस गाता ।
अशरण के वह शरण-ठौर हैं,
दुखियारों के है त्राता ।

काशी - राजा यह सब सुनकर
डाहों से जल - जल मरे—
"मेरे जन मुझसे भी बढ़कर
मन में उसका मान करें !
मुझसे नीचे जिसका आसन,
मुझसे उसकी कीर्ति बढ़ी !
धर्म दया माया सब वंचन,
असल बात है चढ़ाचढ़ी !"
बोले : "सेनापति, कृपाण
लो, जमा करो सारी सेना !
मुझसे बढ़कर पुण्यवान्
होने का मजा चखा देना !"
काशी - राजा जीते रण में,—
कोसल - राजा हार कर
राज्य छोड़ कर भागे वन में;

क्षोभ, लाज, — दो हमसफ़र !
काशी - राजा हँस - हँस कर
कहते अपने दरबार में,
"धन - रक्षा - सक्षम होकर
दाता शोभे संसार में !"

सब रोते हैं, "निठुर राहु
ऐसे चंदा को भी घेरे !
लक्ष्मी खोजे बली बाहु,
धर्म की ओर से मुंह फेरे !"
रो-रो कहती दसों दिशाएँ
"पितृहीन नीरस संसार !
जो सब जग को बन्धु बनायें,
उनके दुश्मन को धिक्कार !"
सुनकर काशी-राज अति कुपित,
"क्यों नगरी में इतना सोग ?
मैं तो हूँ फिर यह किसके हित
रो-रो मरते हैं सब लोग ?
मेरे भुज - बल से परास्त
हो वह जीते जग का हृद्देश ?
इसीलिए कह गये शास्त्र :
छोड़ो न कभी वैरी का लेश !
मन्त्री जी, घोषक बुलवायें,
सभी - कहीं घोषणा करें :
कोसल - राजा को घर लायें
वह पायेगा सौ मुहरें !"
राज - दूत फिरते है जग भर
निशि - दिन करते है ऐलान,—

जो सुनता सो सिहर-सिहरकर
जीभ काटता, मुंदते कान ।

राज्यहीन राजा वन-वन में
फिरते रहते दीन-मलीन;—
एक बटोही मिला विजन में,
बोला रो-रोकर ग़मगीन :
"वन का छोर कहाँ वनवासी,
है कोसल की राह किधर ?"
राजा बोले, "सत्यानासी
देश; – मिलेगा क्या जाकर ?"
बोला पथिक, "वणिक् मैं भारी
था, पर डूब गयी नैया ।
अब दर-दर का बना भिखारी,
कैसे प्राण बचें, भैया !
करुणा-सागर हैं कोसल-पति,
उनका नाम जपे संसार;
वह अनाथ के नाथ, दीन-गति,—
दीन चला है उनके द्वार !"
सुनकर राजा ने मुसकाकर
रोका नयनों का पानी,
पल भर कुछ सोचा, उसाँस भर
बोले सुधा-सनी वाणी :
"पथिक, दिखाता हूँ मैं वह पथ
जिससे तेरी साध पुरें ।
बहुत दूर चल चुके, मनोरथ
ले काटे दिन बहुत बुरे ।"

काशी का दरबार; मलिन-तन
आया एक जटाधारी ।
राजा ने "किस काज आगमन"
कहकर किलकारी मारी ।
धीरे से बोला आगन्तुक
'मैं कोमल-पति हूँ राजन्,—
मुझे पकड़वाने के इच्छुक
थे तुम, करो वचन पालन;
इस साथी को करो पुरस्कृत ।"
सुनकर चौंक उठा दरबार;
सन्नाटा छाया; वर्मावृत
द्वारपाल रोया बेज़ार ।
राजा मौन रहे पल भर,
फिर हँस कर बोले, "हे बन्दी,
मुझे जीतने को भर कर
तुमने की यह घेराबन्दी !
पर न पुजेगी आस आज,
यह अन्तिम रण मैं जीतूंगा;—
राज ही नहीं महाराज,
मैं साथ-साथ दिल भी दूंगा ।"
वनवासी था चिथड़े पहने,
उसे बिठाकर सिंहासन,
मुकुट दिया, पहनाये गहने ।
'धन्य धन्य' बोले पुरजन ।

२१ कार्तिक १३०४ बं०　　　　अनु० : २३ फाल्गुन १८८२ श०

प्रतिष्ठापना-दिवस

बहुत पहले हमारा यह देश, यह भारतवर्ष, सभी विषयों में
सचमुच बढ़ा-चढ़ा था, महान् था, बड़ा था। उस समय यहाँ के लोग
वीर थे। वे ही हमारे पूर्व-पुरुष थे।

'सचमुच बड़ा' किसे कहते हैं? हमारे पूर्व-पुरुष क्या हो लेने
पर अपने को 'बड़ा' मानते थे? आज हमारे मन में वह 'बड़ा' भाव
नहीं है, इसीलिए हम धन को ही 'बड़े' होने का लक्षण मानते हैं और
धनी को ही 'बड़े लोग' कहते हैं। हमारे पूर्वज ऐसा नहीं करते थे।
उनमें जो लोग सबसे बड़े थे, वे ब्राह्मण धन को तुच्छ मानते थे।
उनमें न वेश-भूषा थी, न विलासिता थी। रत्ती-भर भी नहीं।
और फिर भी बड़े-बड़े राजा-महाराजा आकर उनके आगे माथा
टेकते थे।

जो आदमी कपड़े-लत्ते, जूते-छाते के बल पर अपने आपको बड़ा
मानता है, वह सोचो तो सही कितना छोटा होता है बेचारा! जूते
मनुष्य को बड़ा बना सकते हैं? दामी जूते, दामी कपड़े-लत्ते हमारे
किसी गुण का परिचय देते हैं? हमारे जिन प्राचीन ऋषियों के पैरों
में जूते नहीं होते थे, बदन पर पोशाक नहीं होती थी, वे क्या साहब
के घर के जूते और विलायती कपड़े पहनने वाले हम लोगों से कहीं
'बड़े' नहीं थे? आज यदि हमारे वही याज्ञवल्क्य, हमारे वही वशिष्ठ
ऋषि नंगे पैर नंगे बदन अपनी वही ज्योतिर्मय दृष्टि और वही
पिङ्गल जटा-भार लिए हमारे बीच उपस्थित हो जायँ, तो सारे देश
में ऐसा कौन-सा राजा है, ऐसा कौन-सा कितना बड़ा साहब है जो

अपने जूते छोड़-छाड़कर, अपने सिर का ताज उतारकर उस दरिद्र ब्राह्मण के पैरों की धूलि पाने में अपने आपको कृतार्थ नहीं मानेगा ? आज ऐसा कौन है जो अपनी गाड़ी, जोड़ी, अटारी और सोने की चेन के बल-बूते पर उनके सामने सिर उठाकर खड़ा हो सके ?

वे पूज्य ब्राह्मण ही हमारे पितामह थे। हम उन्हें नमस्कार कर रहे हैं। सिर्फ़ सिर झुकाकर नमस्कार करना नहीं बल्कि उनकी सीख मानने का, उनके चरण-चिह्नों पर चलने का नमस्कार। उनके जैसा होने की कोशिश करना ही उनकी भक्ति है

× × ×

मैंने तुम्हें इस निर्जन आश्रम में आहूत किया है। तुम मेरे पास आये हो,—मैं उन प्राचीन ऋषियों के सत्य वचन और उनके उज्ज्वल चरित्र को सदा अपने मन में धारण करके तुम्हें उन्हीं महापुरुषों के मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करूँगा। हमारे व्रतपति ईश्वर मुझे वही बल, वही क्षमता प्रदान करें। हमारे प्रयत्न सफल हो गये तो तुम सभी वीर पुरुष हो उठोगे : तुम भय से कातर नहीं बनोगे, तुम दुख से विचलित नहीं होगे, तुम क्षति से म्रियमाण नहीं होगे, तुम धन के गर्व से स्फीत नहीं होगे, तुम मृत्यु को अङ्गीकार नहीं करोगे, तुम सत्य को जानना चाहोगे, तुम मिथ्या को अपने मन-वचन-कर्म से दूर कर दोगे, तुम सर्वदा और संसार के सभी स्थानों पर मन में और बाहर एक ईश्वर को वर्त्तमान मानकर आनन्द-भरे मन से सभी बुरे कर्मों से निवृत्त रहोगे। तुम अपने कर्त्तव्य कर्म प्राण-पण से करोगे, सांसारिक उन्नति धर्म के मार्ग पर अविचल रहकर करोगे और जब कर्त्तव्य के तक़ाज़े पर धन-संपत्ति एवं सांसारिक सुख को त्याग देने का अवसर आयेगा, तब तुम रंच मात्र भी व्याकुल नहीं होगे। अगर ऐसा हुआ तो तुम्हारे द्वारा भारतवर्ष फिर उज्ज्वल हो उठेगा,—तुम जहाँ रहोगे, वहीं मङ्गल होगा, तुम सभी का भला करोगे और तुम्हें देखकर सभी भले होंगे।

हमारे पूर्वपुरुष कैसी शिक्षा और व्रत का अवलम्बन करते थे ?

वे बाल्यकाल में गृह त्यागकर निर्जन में स्थित गुरु-गृह जाते थे। वहाँ बड़े ही कठिन नियमों से अपने आपको संयत रखना होता था। वे एकाग्र मन से गुरु की भक्ति करते थे और गुरु के सभी काम सँभालते थे। गुरु के लिए जलावन काट लाना, पानी भर लाना, ढोर चरा लाना, भिक्षा कर लाना आदि उनके काम थे। शिष्य चाहे कितने ही बड़े धनी के पुत्र क्यों न हों, ये काम तो वे करते ही थे। शरीर और मन को सर्वथा पवित्र रखना होता था। उनके शरीर को और मन को किसी प्रकार का दोष छू भी नहीं पाता था। वे गेरुआ कपड़े पहनते, कठिन शय्या पर सोते, पैरों में जूते नहीं पहनते, सिर पर छाते नही ओढते,—उनके साज-सिंगार में तिल-भर भी 'बड़े-आदमी-पना' नही होता था। समस्त मन की समस्त चेष्टा केवल शिक्षा-लाभ में, केवल सत्य की खोज में, केवल अपनी दुष्प्रवृत्तियों के दमन में, केवल अपने सद्‌गुणों के प्रस्फुटन में नियोजित हुआ करती थी।

तुम्हें भी वैसे ही कष्ट स्वीकार करने होंगे, उन्ही कठिन नियमों का पालन करके, सभी प्रकार के 'बड़े-आदमी-पने' को तुच्छ मानकर इस गुरु-गृह में वास करना होगा। तुम सर्वतोभाव से गुरु के प्रति श्रद्धावान् रहोगे, मन-वचन-कर्म से उनकी लेशमात्र भी अवज्ञा नहीं करोगे। तुम शरीर को पवित्र रखोगे,—किसी दोष को पास तक फटकने नहीं दोगे। मन को सम्पूर्ण रूप से गुरु के उपदेश के अधीन रखोगे।

आज से तुमने सत्य-व्रत ग्रहण किया। मिथ्या को तुम शरीर-मन-वाणी से दूर रखोगे। सबसे पहले तुम सत्य को जानने के लिए विनयपूर्वक समस्त मन, बुद्धि और चेष्टा का दान करोगे और फिर जिसे तुम सत्य के रूप में जानोगे, उसका पालन और घोषण निर्भय होकर और तेज के साथ करोगे।

आज से तुम्हारा अभय-व्रत शुरू हुआ। धर्म के सिवा संसार में ऐसी और कोई चीज़ नहीं, जिससे तुम्हें डरना हो। विपद्, मृत्यु,

कष्ट आदि कुछ भी तुम्हारे भय का विषय नहीं हो सकता। तुम सर्वदा रात-दिन प्रफुल्ल चित्त, प्रसन्न मुख और श्रद्धा के साथ सत्य-लाभ और धर्म-लाभ में जुटे रहोगे।

आज से तुम्हारा पुण्यव्रत शुरू हुआ। जो भी अपवित्र है, कलुषित है, जो कुछ भी प्रकट करते लज्जा का बोध होता है, वह सब-कुछ अपने समस्त प्रयत्न पूर्वक, प्राण-पण से अपने शरीर और मन से दूर करके तुम प्रभात के शिशिर-सिक्त फूल की तरह पुण्य में और धर्म में विकसित रहोगे।

आज से तुम्हारा मंगल-व्रत है। जिससे परस्पर भला हो, वहीं तुम्हारा कर्त्तव्य है। उसके लिए निजी सुख का, निजी स्वार्थ का विसर्जन करना है।

एक शब्द में कहें तो आज से तुम्हारा ब्रह्मव्रत है। एक ब्रह्म तुम्हारे अन्तर में, तुम्हारे बाहर, सर्वदा सभी स्थानों में हैं। उनसे कुछ भी छिपा रखने की गुंजायश नहीं है। वे तुम्हारे मन में स्तब्ध हुए देख रहे हैं। जब जहाँ रहो, सोओ, बैठो, रहोगे सदा उन्हीमें, संचरण करोगे सदा उन्हीमें। तुम्हारे सर्वाङ्ग में उनका स्पर्श है, तुम्हारी समस्त चिन्ता-भावना उनके गोचर है। वही तुम्हारे एक-मात्र भय हैं, वही तुम्हारे एकमात्र अभय है।

नित्य कम-से-कम एक बार उनका चिन्तन करो। उनके चिन्तन का मन्त्र हमारे वेद में है। इस मन्त्र को हमारे ऋषि और द्विज प्रतिदिन उच्चारण करके जगदीश्वर के सम्मुख खड़े होते थे। हे सौम्य, तुम भी एक बार मेरे साथ-साथ उसी मन्त्र का उच्चारण करो :

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यम्
भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात्।

७ पौष १३०८ बं० अनु० : ३० चैत्र १८८३ श०

वीर

मान लो कि घूमता विदेश में
तुझे लिये दूर-दूर देश में।
ढो रहे हैं तेरी पालकी कहार,
ज़रा-ज़रा-से खुले हैं बंद द्वार,—
और मैं रंगीन घोड़े पर सवार
दुलक-चाल चल रहा माँ पास-पास;
धूल टाप-टाप से उड़ी हुई
रँग रही रँगीले मेघ का लिबास।

साँझ हुई, झुटपुटा उठा पहर,
मिला जोड़े पोखरों वाला पाँतर:
जिधर देखो उधर ही हू का आलम,
चील-काग तक न देख पायें हम,—
तू डर के मारे उठी सहम-सहम,
सोच रही, "हा, कहाँ फँसे रे मन!"
कह रहा मैं, "डर न माँ, बिना कारण;
देख यह मुरदार नदी का छाड़न।"

चिटचिटे ने परती की धरती ढाँकी,—
बीचोंबीच पगडंडी आँकी-बाँकी।
किसी ओर नहीं ढोर या डंगर,

साँझ उन्हें हाँक ले गयी है घर,
किसे पता है कि हम चले किधर,
अँधेरे में सूझता कुछ भी नहीं है।
तू मुझे पुकारकर कहती : "देखो,
पोखरे के तीर कैसी रोशनी है !"

ऐसे में ये कौन लोग नारे
लगाते आ रहे "हाँ-रे, हाँ-रे !"
तू तो डर से पालकी में दुबकी
ठाकुर जपती भर रही है सुबकी,
चिटचिटे के कंटक-वन में चुपकी
साधे जा छिपे हैं सब कहार।
वे तो थर-थर काँपते हैं, पर मैं
"डर क्या, मैं तो हूँ"—कहता पुकार।

हाथ लाठियों से, सिर लंबी जुल्फ़ों से
सजे-सँवारे, कानों में गुड़हल खोंसे।
उन्हें देख-गूंजी मेरी ललकार :
"डग भर आगे बढ़े कि बंटाढार
कर दूँगा, देखो मेरी तलवार,
बोटी-बोटी उड़ जाओगे सारे !"
बात लगी, वे उछले, गरजे-तरजे,
लगे लगाने नारे "हाँ-रे हाँ-रे !"

तू बोली : "लल्ला, मत जा, रे बाप !"
मैं बोला : "तू बैठी रह चुपचाप !"
सरपट जा पहुँचा उनके दर्म्यान,
तलवारें बज उठीं, मचा घमसान;—

ऐसी ठनी कि सुन ले अगर बखान,
तेरे रोएँ होंगे काँटोकाँट।
कितने डर से छोड़ गए मैदान,
कितनों के तन हुए बहत्तर बाँट!

झीक रही थी तू बैठी मजबूर :
'इतनों से लड़ शायद मरा ज़रूर?'
इतने में मैं लहू-पसीना अंग
आकर बोला, "लो, निबट गयी जंग!"
सुनकर पलटा तेरा उखड़ा रंग,
उतर पालकी से चूमा तत्काल,
गोद लिया, बोली, "नसीब से लाल,
तू सँग था, वरना क्या होता हाल!"

नित घटनाएँ घटतीं क्या-क्या कुछ,—
होता क्यों न कभी ऐसा सचमुच!
यह तो होती एक कहानी आप,
सुननेवाले मुँह बाते चुपचाप,—
भैया कहते : "नहीं, बाप रे बाप,
इतना बल क्या था लल्ला के अंग!"
सुन-सुनकर कहते टोले के लोग,
"क़िस्मत से लल्ला था माँ के संग।"

अनु० : १५ फाल्गुन १८८२ श०

चलता-फिरता कलकत्ता

सिर पर ईंट का सेहरा बाँधे
कलकत्ता शहर
अडिग भाव से बैठा है
ईंटों के आसन पर।
बहती है फागुनी हवा,
इसको न लगती गुदगुदी।
बैसाखी अंधड़ में भी
टूटे न इसकी बेखुदी।
खम्भे काँप न उठते जाड़ों
की हड़कम्प बयार में।
एक भाव से रहता है यह
पतझड़ और बहार में।

बहुत दिनों की बात हुई,
मैंने सपना देखा : बुआ
अकस्मात् चिल्ला उठी,
'देखो, देखो तो क्या हुआ!'
कुरसी से उतरा, देखा
छुटता हुआ आकर बाहर:
ईंट-शरीर डुलाता भागा
जाता कलकत्ता शहर!

ऊँची छत पर, नीची छत पर,
रेलिंगदार घिरी छत पर,
[illegible]न मानो सवार था
कलकत्ता के काँधे पर।
सड़कें गलियाँ भागी जाती
मानो अजगर दल के दल।
पीठो पर ट्रामें चिपकी हैं,
डोल रही टलमल टलमल।
दूकानें उठती-पड़ती है,
मानो नावें अंधड़ में।
चौरंगी मैदान सरकता
भागा जाता हड़वड़ में।
उखड़ न जाये, डोल रहा है
रानी का स्मारक धड़-मूंड़ ;—
दायें-बाये डोल रहा है,
ज्यों बिगड़े हाथी की सूंड़ !
'है है' करते उछल रहे है
स्कूल-स्कूल में छात्रगण ;
नाच रहे हैं वस्ते, स्लेटें,
अंकगणित और व्याकरण।
चाक की तरह भँवराती
अँगरेजी पुस्तक फ़र्श पर,
चिड़ियों के डैनों-से नकशे
उड़ें झपट्टे मार कर।
डोल-डोल कर घंटे बजते
ही जाते है ठनन्-ठनन् ;—
बेर ढली जाती, पर उनको
रोक न पाते लाख जतन।

रोती और विलखती फिरती
है रसोई की महरी :
'लौकी-कुँहड़े दौड़े फिरते,
हाय क्या करूँ मैया री !'

'रुक जा, रुक जा अरे' चीखते
फिरते लाखों लाख जन,—
'जाना कहाँ, कहाँ जायेगा,
यह क्या करता पागलपन !'
हावड़ा का पुल चिल्लाता है—
'अरे अरे, चल पड़े किधर !
और ज़रा भी डुला कि गिर
जाऊँगा मैं जल के अंदर !'
चीना बाज़ार, मछुआ बाज़ार
और बड़ा - बाज़ार से
'स्थिर हो लो' 'स्थिर हो लो' नारे
उठते आर्त्त गुहार-से।
सोच रहा मैं : जाने भी दो,
क्या चिंता है, क्या परवाह,—
कलकत्ता बंबई जाय या
दिल्ली, अपनी वाह-वाह !

जाने क्या आवाज़ हुई,
औचक ही टूट गया सपना ;—
देखो, कलकत्ते में ही है
पगला कलकत्ता अपना !

अनु० : २१ फाल्गुन १८८२ श०

पुजारिन

(अवदान शतक)

मगध-राज बिम्बिसार
बुद्ध-देव का प्रसाद मुंह-मांगा लाये थे
पग - नख - कणिका · उतार।
राज-भवन के निभृत उपवन में प्रतिष्ठित कर
बड़े प्रेम से, बड़े जतन से, उसके ऊपर
रचवाया शिला-स्तूप, जिसका अपरूप रूप
वास्तु-कला - कांति - सार!

संझा को शुचि तन-मन, शुचि सुरुचिर वसन पहन,
राज-वधू-गण, नृप-कुल-बालाएँ
सोने के थालों में सजा गंध-फूल
भक्ति-पूर्वक लाती, स्तूप-पाद-मूल
सज देती, धर अपने हाथों घृत-तूल
बाल जाती कनक-दीप-मालाएँ।

पुत्रक अजातशत्रु ने, पाकर सिंहासन
त्यागा पितृ-धर्म-पंथ।
पोंछ दिया धर्मांकित राज-पुरी-भाल को,
प्रजा-रक्त-धारा में सिक्त किया काल को,

सौंप दिये यज्ञों के होमानल-ज्वाल को
सकल बौद्ध शास्त्र-ग्रंथ।

राजनगर - नागरियों को बुलवाकर बोला
यों अजातशत्रु, चूर मद में:
"पूजा के है केवल तीन पात्र—
वेद, विप्र और लोकपाल मात्र;
सीधी-सी बात, इसे जो कुपात्र
भूलेगा, पड़ेगा विपद् में!"

उस दिन था शारद-दिवसावसान;—
दासी श्रीमती-नाम
करके शीतल - पुनीत - जल - मज्जन,
सजा थाल पुष्प-दीप-नीराजन,
पटरानी-चरणों में विनत-नयन
खड़ी हुई कर प्रणाम।

डर से सिहरी पटरानी, बोली:
"भूल गयी भूप-वचन?—
है अजातशत्रु का कठिन शासन:
करेगा जो दुष्ट स्तूप का पूजन,
शूल-विद्ध होगा निश्चय सो जन
या निर्वासन-भाजन!"

लौटी दासी चुप-चुप, गयी वधू-
जन अमिता के घर को।
बैठी थी वधू लिये कनक-मुकुर,
बांध रही थी प्रलम्ब सघन चिकुर,

मगन-मन सिंदूर से रही थी पुर
सीथ-रेख के स्तर को।
देख श्रीमती को रेख वक्र हुई,
काँप गये डर से कर;—
बोली : "री भोली, क्या दुस्साहस?
लायी पुजापा तू या अपजस?
भाग, कहीं देख ली गयी तो बस,
हो विषम विपद् सब पर!"
अस्ताचल-सूर्य-किरण आभा में
खुले वातायान के तट
कुमारिका शुक्ला बैठी एकाकिनी
काव्य-कथा पढ़ रही थी मन-भावनी;
चौंकी, देखा द्वार, ज्यों ही किंकिणी-
क्वणन की मिली आहट।
श्रीमती को देख, पुस्तक को पटका,
लपककर गयी समीप।
कानों में कहा बहुत हो सावधान:
"कौन है, राजा की आज्ञा से अजान,
यों कहीं बुझा देते हैं ज्ञानवान्
अपनी फूँको जीवन-दीप!!"
श्रीमती इसी प्रकार फिर आयी द्वार-द्वार
लिये अर्घ्य की थाली।
घर-घर जा सबसे बोली सविनय:
"नागरियो, पूजा का हुआ समय!"—

सुन कर के कई दुबक गयीं सभय,
कई दे उठीं गाली।

× ×   × ×   × ×

दिन की अंतिम किरण अदृश्य हुई
नगर-सौध के ऊपर।
पंथ जन-विहीन अंधकार-लीन,
क्रम-क्रम से कोलाहल हुआ क्षीण,
आरात्रिक - घंट बजा पुराचीन
राज-देवल के भीतर।

शरद्-निशारंभ, स्वच्छ अँधियारा,—
जलते अगणित तारे।
सिंहद्वार पर सिंघा छेड़े तान,
वंदीजन गाते संध्या के गान;
"राज-मंत्रणा - सभा हुई अवसान"—
द्वारी - स्वर ललकारे!

चौंक उठे महल के पहरुए सब
देख अचंभा औचक:
राजा के विजन भवन-उपवन में
स्तूप-पीठिका के तम-गहन में
सहसा शत-सहस्र कहाँ से जनमे
दीवाली के दीपक!

पुर - रक्षक लेकर नंगी कटार
चमचम - चम चपला सी
छुटता आया, पूछा: "आरती
मरने को कौन तू यहाँ करती?"

सुना मधुर वाणी: "मैं श्रीमती,
बुद्धदेव की दासी!"
उस दिन पड़ी रक्त की लेखा
उज्ज्वल शिला-फलक पर।
उस दिन शरद्-निशा थी नीरव,
निर्मर्मर उपवन के पल्लव;—
स्तूप-मूल का कर शेष - स्तव
बुझे आरती के स्वर!

१८ आश्विन १३०६ ब०

अनु० : २५ फाल्गुन १८८२ श०

आश्रम का स्वरूप और विकास

जिस समय मेरे छुटपन के दिन थे, उस समय के स्कूलों की रीति-प्रकृति और उस समय के शिक्षकों-छात्रों के आचरण मेरे लिए बिलकुल ही दुस्सह हो उठे थे। उन दिनों की शिक्षा-विधि में कोई रस नहीं था। पर मेरी असहिष्णुता का कारण एकमात्र यही नहीं था। कलकत्ता शहर में मैं लगभग बंदी-अवस्था में ही था। पर घर के इस बंधन में भी कोई न कोई अवकाश निकल ही आता था और उसके रास्ते बाहर की प्रकृति के साथ मेरा एक आनन्द-सम्बन्ध उत्पन्न हो गया था। घर के दक्षिणवाले पोखरे के पानी में शाम-सवेरे की छायाएँ इस पार उस पार आया-जाया करती थी, हंस तैरते थे, पानी में डुबकियाँ लगाकर सितुए निकालते थे, आषाढ़ के जल-भरे नीलवर्ण मेघ पाँत-पाँत खड़े नारियल-वृक्षों की चोटियों पर पुञ्ज के पुञ्ज उमड़कर वर्षा का गम्भीर समारोह लाते थे। दक्षिण की ओर जो बाग था, उसके नाना रंगों में एक के बाद एक ऋतु का आमन्त्रण उत्सुक दृष्टि के रास्ते मेरे हृदय तक पहुँचता था।

आशा है कि घोर से घोर शहरी लोगों को भी यह समझाने की जरूरत न होगी कि शिशु-जीवन के साथ विश्व-प्रकृति का यह आदिम-कालीन योग प्राण-मन के विकास के लिए कितना अनमोल है! जब स्कूल ने नीरस पाठ्य, कठोर शासन-विधि और प्रभुता-प्रेमी शिक्षकों की निर्विचार, अन्यायपूर्ण निर्ममता के द्वारा विश्व और बालक के उस मिलन के वैचित्र्य को कुचल डाला था और इस प्रकार उसके दिनों को निर्जीव, निरालोक और निष्ठुर बना

डाला था, उस समय प्रतिकार-हीन वेदना में मन का व्यर्थ विद्रोह मन ही मन एकान्त भाव से चञ्चल हो उठा था। जब मैं तेरह बरस का हुआ तो शिक्षा-विभाग की दण्ड-श्रृंखला को छिन्न करके बाहर निकल आया। उसके बाद जिस विद्यालय में दाखिल हुआ, उसे यथार्थ में विश्वविद्यालय कहा जा सकता है। वहाँ मुझे कोई छुट्टी नही मिलती थी, क्योंकि मेरी छुट्टी अविश्राम काम करने में ही थी। किसी-किसी दिन रात के दो बजे तक पढ़ता रहता था। अप्रखर आलोक के उस युग में रातों को सारा मुहल्ला निस्तब्ध हो जाया करता था। बीच-बीच में सिर्फ़ एक ही आवाज़ सुनाई पड़ती थी : श्मशान-यात्रियों के कण्ठ से 'निकला 'हरि बोल'! रेंड़ के तेल के दिये की दो बातियों में से एक बाती बुझा दिया करता था। इससे दीप-शिखा का तेज तो मन्द पड़ जाता था, पर उसके प्रकाश की आयु-वृद्धि होती थी। कभी-कभी अन्तःपुर से बड़ी दीदी आ पहुँचती थीं और ज़बरदस्ती मेरी पुस्तक छीनकर मुझे बिस्तरे पर भेजती थीं। उस समय मैंने जिन पुस्तकों को पढ़ने की कोशिश की थी, उन्हें मेरे हाथों में देखकर किसी-किसी गुरुजन को स्पर्धा भी होती थी। शिक्षा के कारागार से निकल आने पर जब मैंने शिक्षा की स्वाधीनता पायी थी, उस समय काम तो बहुत-बहुत बढ़ गया था, पर भार घट गया था।

× × ×

शिक्षा के सम्बन्ध में जो मत मेरे मन में न जाने कितने समय तक सक्रिय रहा है, वह मोटे तौर से यह है कि शिक्षा दैनन्दिन जीवन-यात्रा का निकट अंग होगी, उसके साथ सुर में सुर और ताल में ताल मिलाकर चलेगी, 'क्लास'-नामधारी पिंजरे की चीज नहीं होगी। और जो विश्व-प्रकृति प्रतिनियत प्रत्यक्ष-परोक्ष भाव से हमारे शरीर और मन में शिक्षा का विस्तार करती है, वह भी इसीके साथ मिलित होगी। प्रकृति के इस शिक्षालय का, एक अंग है पर्यवेक्षण और दूसरा परीक्षण। और इसका सबसे बड़ा काम है प्राणों में

आनन्द का संचार। यह तो हुई वाह्य प्रकृति की वात। इसके अतिरिक्त देश की अपनी एक अन्तः-प्रकृति भी है। उसका भी एक विशेष रस है, रंग है, ध्वनि है। भारतवर्ष का जो चिरकालिक चित्र है, उसका आश्रय सस्कृत भाषा में है। इस भाषा के तीर्थ-पथ से हम देश की चिन्मय प्रकृति का स्पर्श पायेंगे, उसे अपने अन्तर में ग्रहण करेंगे। शिक्षा का यही लक्ष्य मेरे मन में दृढ़-भाव से घर किये हुए था। अँगरेजी भाषा के माध्यम से हम नाना प्रकार के ज्ञातव्य विषय जान ले सकते हैं, और वे बहुत ही जरूरी भी है। पर संस्कृत भाषा का एक आनन्द है जो हमारे मन के आकाश को रञ्जित करता है;—उसमें एक गम्भीर वाणी है, जो विश्व-प्रकृति की ही तरह हमें शान्ति और हमारे चिन्तन को मर्यादा देती है।

जिस शिक्षा-तत्त्व के प्रति मेरी श्रद्धा है, उसकी भूमिका यही है।

×× ×× ××

जिसे तपोवन का वाह्य अनुकरण कहा जा सकता है, वह तो हमारे लिए अग्राह्य है। कारण, आज के युग में वह असंगत है, मिथ्या है। उसके भीतर जो सत्य है, उसीको हमें आधुनिक जीवन-यात्रा के आधार पर प्रतिष्ठित करना है।

उसके कुछ ही समय पहले पितृ देव ने शान्तिनिकेतन आश्रम को जन-साधारण के नाम पर उत्सर्ग कर दिया था। उनका संकल्प यह था कि आश्रम के अतिथि दो-तीन दिन यहाँ रहकर आध्यात्मिक शान्ति की साधना कर सकें। इसके लिए उपासना-मन्दिर, पुस्तकालय और अन्यान्य व्यवस्था यथोचित कर रखी गयी थी।

×× ×× ××

शान्तिनिकेतन आकर ही मैं अपने जीवन में पहले-पहल विश्व-प्रकृति के बीच उन्मुक्त हो सका था। यहाँ उपनयन के ठीक बाद पहुँचा था। उपनयन-संस्कार के अनुष्ठान में भूर्भुवःस्वर्लोक में चेतना को परिव्याप्त करने की जो दीक्षा पितृदेव से मिली थी, यहाँ

पर वही दीक्षा मुझे विश्व-देवता से मिली। प्रथम वय में ही यदि यह सुयोग मुझे नही मिला होता तो मेरा जीवन नितान्त ही अपूर्ण रह जाता। पितृदेव के किसी निषेध या शासन ने मुझे वेष्टित नही किया। सुबह के समय बस थोड़ी देर के लिए उनसे अँगरेजी और संस्कृत सीखता और फिर दिन भर के लिए मेरी अबाध छुट्टी ही छुट्टी रहती। तब तक बोलपुर शहर इतना फूला-फैला नहीं था। तब तक चावल कल के- धुएँ ने आकाश को कलुषित और उसकी दुर्गन्ध ने मलय-पवन को मलमय नहीं किया था। मैदान के बीचों-बीच से लाल मिट्टी की जो पगडंडी निकल गयी है, उसपर लोगों की आवाजाही नाममात्र को ही होती थी। बाँध का पानी पूरा फैला हुआ रहता था। बाढ़-पाँकी मिट्टी वाली खेती की जमीन ने उसे चारों ओर से धकेल-धकेल कर कोने में दुबक जाने को मजबूर नही किया था। उसके पश्चिम वाले ऊँचे तट पर घने ताड़-वृक्षो की श्रेणी तब भी अक्षुण्ण थी। कँकरीली धरती पर वर्षा की जलधारा से खुद कर जो आँके-बाँके ऊँचे-नीचे रजवाहों से रास्ते बन जाते हैं और जिसे खोवाई कहते हैं, वे खोवाइयाँ नाना जाति-वर्णों और नाना आकृतियों के पत्थरों से परिकीर्ण थीं। किसी पर सिरा-कटे पत्ते की छाप होती तो कोई लम्बे रेशोंवाली लकड़ी के टुकड़े की तरह लगती; किसी पर स्फटिक के-से दाने सजे होते तो कोई अग्नि-गलित मसृणता लिए होता।

×× ×× ××

मैंने भी सारी-सारी दुपहरी खोवाइयो में घुसकर भाँति-भाँति के पत्थरों का संग्रह किया है। धन-उपार्जन के लोभ से नहीं, बल्कि पत्थर-उपार्जन के उद्देश्य से ही। मैदान का पानी सिमट-सिमट कर एक जगह पर खोवाई के ऊपरी करारे से छोटे झरने के रूप में झरा करता था। जहाँ पर यह झरना गिरता था, वहाँ एक छोटा-सा जलाशय बन गया था। उसका उजलौहाँ घँघोला-सा पानी मेरे जैसों केड़ुबकियाँ लगा-लगाकर स्नान करने योग्य यथेष्ट गहरा तो था

ही। उस डबरे से उपट-उतरा कर स्वच्छ जल के क्षीण स्रोत नाना शाखा-प्रशाखाओं में झिर-झिर करते बह निकले थे और उन स्रोतों में छोटी-छोटी मछलियाँ तैरती हुई ऊपर उजानो की ओर चढा करती थीं। मैं इन जलधाराओं का अनुसरण करता हुआ उस शिशु-भूविभाग को नयी-नयी बालखिल्य गिरिनदियों का आविष्कार करने निकला करता था।

×× ×× ××

खोवाइयों में जहाँ-तहाँ मिट्टी जमा हो गयी थी और उस पर बौने-बौने-से बनजामुन और बनखजूर उग आये थे। कही-कहीं घने कास उपज कर काफी लम्बे-लम्बे हो गये थे। ऊपर दूर के मैदानों में ढोर चरते थे। कही संथाल खेत जोतते थे तो कही पथहीन प्रान्तर में बैलगाड़ी आर्त्त स्वर में चरर-मरर करती चली जाती थी। लेकिन खोवाइयों के इन गह्वरों में कही कोई प्राणी नहीं होता था। धूप-छाँही में चित्र-विचित्र बना लाल कंकरों का यह निभृत जगत् न फल देता है, न फूल देता है, न फसल उगाता है। यहाँ किसी जीव-जन्तु का वास भी नही होता। यहाँ पर सिर्फ़ एक ही चीज दिखाई देती है और वह है किसी आर्टिस्ट विधाता का कोई जैसा-तैसा चित्र आँकने का शौक! ऊपर मेघहीन नीला आकाश धूप से पाण्डुर हो उठता है, और नीचे भाँति-भाँति की आँकी-बाँकी बन्धुर रेखाओं पर मोटी कूची से लाल कंकारों का रंग भरा जाता है। सृष्टिकर्त्ता के लड़कपने के अलावा इसमें और कोई भी विशेषता दिखाई नहीं पड़ती। इसकी रचना के छन्द का तुक बालक के खेल के साथ ही मिलता है। इसके पहाड़, इसकी नदियाँ, इसके जलाशय, इसके गुहागह्वर आदि सभी चीजें बालक-मन के परिमाप के अनुसार ही बनी हैं।

×× ×× ××

आज शान्तिनिकेतन में छितवन का जो अति-प्राचीन वृक्ष-युगल मालती-लता से आच्छन्न है; किसी ज़माने में उसके अतिरिक्त यहाँ

के इतने बड़े मैदान में और कहीं कोई वृक्ष नहीं था। छितवन का यह जोड़ा डाकुओं का अड्डा था। शिथिल राष्ट्र-शासन के उस युग में इसकी छाँहों तले न जानें कितने छाया-प्रत्याशी थके बटोहियों ने धन या प्राण या दोनों गँवाये होंगे !

×× ×× ××

कभी इस छितवन-युगल की छाँह को देखकर दूर-पथ-यात्री पथिक विश्राम की आशा से यहाँ आया करते थे। मेरे पितृदेव भी रायपुर के भुवन-सिंह के घर का नेवता पूर कर पालकी पर सवार इधर से लौट रहे थे, तो सुनसान नंगे मैदान के बीच खड़े इस वृक्ष-युगल का आह्वान उनके प्राणों को छू गया था और यहाँ पर शान्ति पाने की प्रत्याशा में उन्होंने यह जमीन रायपुर के सिंह-परिवार से दान के रूप में ले ली थी। फिर उन्होंने यहां पर एक एकमंजिला मकान बनवाकर और रुक्ष रिक्त भूमि में अनेक वृक्ष लगवाकर इसे साधना-स्थल बना लिया थाऔर जब-तब-साधना के लिए यहाँ आकर आश्रय लिया करते थे।

×× ×× ××

पहले-पहल उस बाल-वय में यहाँ की प्रकृति का जो आमन्त्रण मुझे मिला था,—यहाँ के अनवरुद्ध आकाश और मैदान ने, दूर से प्रतिभात नीलाभ शाल-श्रेणी और ताल-श्रेणी के समुच्च शाखा-पुञ्जों की श्यामला शान्ति ने जो संदेश मुझे दिया था, वह तभी से स्मृति की सम्पदा के रूप में मेरे स्वभाव का स्थायी अंग बन गया है। उसके बाद मैंने इस आकाश और इस प्रकाश में साँझ-सवेरे पितृदेव की पूजा का नीरव निवेदन देखा है, उसकी गहरी गम्भीरता देखी है। तब यहाँ पर और कुछ भी नहीं था, न इतने पेड़-पौधे थे, न लोगों की और कामों की ऐसी भीड़ थी। थी केवल इस दूर-व्यापी निस्तब्धता में एक निर्मल महिमा !

उसके बाद उस समय का बालक जब यौवन के प्रौढ़-विभाग में

प्रविष्ट हो चुका था, तब उसे बालकों की शिक्षा के लिए तपोवन की तलाश हुई। पर ऐसा तपोवन वह और कहीं, दूर कहीं, ढूँढ़ने जाता ही क्यों ? मैं पिता के पास पहुँचा। उनसे मैंने यह निवेदन किया शान्तिनिकेतन तो इस समय लगभग शून्य अवस्था में है, वहाँ यदि एक आदर्श विद्यालय स्थापित कर सका तो उसे सार्थकता मिल जा सकती है। उन्होंने सुनते ही बड़े उत्साह के साथ अनुमति दे दी।

×× ×× ××

उसके बाद सिर्फ हमारी इच्छा ही नहीं, काल का धर्म भी काम करता रहा है। उसने कितने परिवर्तन ला दिये हैं; कितनी नयी आशाएँ और व्यर्थताएँ, कितने ही सुहृदों के अकल्पनीय आत्म-निवेदन और कितने अनजाने लोगों की अकारण शत्रुता, कितनी मिथ्या निन्दाएँ और अतिरञ्जित प्रशंसाएँ, आर्थिक और पारमार्थिक कितनी ही दुस्साध्य समस्याएँ आदि उसने उपहार में दी हैं! पारितोषिक मिले या न मिले, पर अपनी क्षति तो अपने साध्य की सीमा तक कर ली है;—अन्त में क्लान्त देह और जीर्ण स्वास्थ्य को देखते हुए मेरी भी विदाई का दिन आ ही पहुँचा है;—इतने दिनों तक ऐसे सुदीर्घ, कठोर और दुर्गम पथ पर जिन्होंने मुझे चलाया है, उन्हें प्रणाम करके विदा लेता हूँ। इतने दिनों की इस साधना की विफलता तो बाहर प्रकट होती है, पर इसकी सफलता का, इसकी सार्थकता का सम्पूर्ण प्रमाण अलिखित इतिहास के अदृश्य अक्षरों में ही निहित रह जाता है।

प्रथम प्रकाशन : आश्विन १३४० ० बं० अनु० : १ वैशाख १८८० श०

सुख-दुख

रथ के देवस्थान पर लगा
आज स्नान का मेला ।
बड़े भोर से बादल बरसे,
सर्-से निकली वेला ।
आज का नशा, मिलना-जुलना,
आज की खुशी, मिले न तुलना,
पर आनंद सभी से बढ़कर
उस लड़की के हास में—
ताड़ के पत्ते की पिपही,
पैसे की, जिसके पास में ।
बजे पिपहिया, पात-पिपहिया
गूंजा स्वर आनंद का ।
लाखों की हर्षध्वनि डूबी,
उभरा स्वर आनंद का ।।

ठाकुर - द्वारे ठेलमठेला,
रेला, भीड़ अपार रे ।
लगातार मूसलाधार में
बहा जाय संसार रे ।
आज का जो दुख, आज का घुलना,
उस दुख की क्या होगी तुलना !

लेकिन वह लड़का टुकुर-टुकुर
ताक रहा है रे कैसा—
लेनी थी रंगीन छड़ी, पर
पास नहीं कोई पैसा।
पलक न झिपती, ताक रहा है;—
दोनों आँखें अरुण हुई।
इस कारण लाखों लोगों के
मेले की छवि करुण हुई।

शिलाइदह ३१ ज्येष्ठ स्नानयात्रा अनु० : २१ फाल्गुन १८८२ श०

पारस

भक्तमाल

यमुना-तट पर वृन्दावन में साधु सनतान अपने मन में,
जपते थे हरि-नाम।
आकर दीन-मलीन वेश में किसी विप्र में चरण-देश में
सादर किया प्रणाम।
देखा, बोले साधु सनातन "विप्र, कहाँ से हुआ आगमन,
कहिये, क्या शुभ नाम ?"
बोले विप्र, "कहूँ क्या भगवन्, 'बड़े भाग से पाये दर्शन,
भटका चारों धाम।
नाम मिला है मुझको 'जीवन', गाँव 'मानकर' में पाया तन,
वर्धमान है जिला।
अपने जैसा और भाग्यहत, कोई दीन, हीन, या दुर्गत
मुझको कहीं न मिला।
थोड़ी-सी अपनी खेती है, उपज बहुत थोड़ी देती है,
जीवन भार हुआ है।
क्रिया-कर्म में, यज्ञ-याग में नाम बहुत था लोग-बाग में
अब वह भी न रहा है।
लेकर अपनी उन्नति का व्रत, वर पाने का सँजो मनोरथ,
बड़ी भक्ति शिव की की।
तभी एक दिन भोर के पहर सपने में बोले शिवशंकर
"साध पुजेगी जी की।

जाओ यमुना-तट वृन्दावन, वहाँ मिलेंगे सत सनातन,
उनके चरण गहो तुम।
अपना पिता उन्हें तुम मानो, धन का भेद उन्ही से जानो,
फिर निश्चिन्त रहो तुम।"

सुन ब्राह्मण का सरल निवेदन, चिन्ताकुल हो उठे सनातन
"अब क्या मेरे पास है ?—
जो भी था वह त्याग चुका हूँ, धन-दौलत से भाग चुका हूँ,
भीख मात्र की आस है !"
इतने में सहसा कौंधी स्मृति, भरी गुसाईं जी ने हुङ्कृति :
"ठीक-ठीक रे, ठीक !
उस दिन वह पारस का टुकड़ा मुझे मिला तो था कहीं पड़ा
यमुना के नजदीक !
सोचा, कभी काम आयेगा, दान-काज में लग पायेगा,
रखा रेत में गाड़;
ले जाओ हे विप्र, उसे ही; पारस है, उसके छूते ही
तिल होगा दुख-ताड़।"
विप्र-देव आये यमुना-तट ढूंढा रत्न रेत में झटपट,
हुई धन्यता गहरी;
ले-देके लोहे की चीज थी : जोड़ा-ढुलना तावीज;
छूते हुई सुनहरी।
ब्राह्मण-देव वहीं बालू पर बैठ, चरम विस्मय में पड़कर
चिन्तित थे मन ही मन;—
यमुना के जल का कलकल रव प्राणों में कितने ही अनुभव
करता रहा निवेदन।

यमुना के उस पार रक्त-छवि साँझ पहर का थका-थका रवि
चला गया अस्ताचल;—

विप्र लोटकर सन्त-चरण में बोला व्याकुल वचन, नग्न में
उमड़े आँसू छलछल :
"गोस्वामी, जिस धन को पाकर पारस भी लगता है पत्थर
तुम्हें, उसी धन का रस
मिले दास को भी !"—औ' पल में धीरे से यमुना के जल में
फेंक दिया वह पारस।

अनु॰ २४ फाल्गुन १८८२ श॰

२६ आश्विन १३०६ बं॰